अध्याय १६

ॐ श्री परमात्मने नमः

षोडश अध्याय

गीता के तेरहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का प्रतिपादन किया। प्रकृति जड़ है और उसे चेतना प्रदान करने वाला जो आत्म तत्व है उसे भगवान ने पुरुष बताया। चौदहवें अध्याय में उन्होंने बताया कि यह आत्म तत्व एक ही होते हुए भी चूंकि त्रिगुणात्मिक प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है अतः इन सत्व रजस और तमस गुणों के आरोपित हो जाने के कारण यह प्रकृतिस्थ पुरुष भिन्न भिन्न स्वरूप और स्वभाव वाला जान पडता है। इसके बाद पन्द्रहवें अध्याय में भगवान ने बताया कि पुरुष परमात्मस्वरूप है पर इसका अर्थ यह नहीं कि प्रकृति में परमात्मतत्व है ही नहीं। प्रकृति भी नारायण ही है, पुरुष भी नारायण ही है। प्रकृति रूपी नारायण और पुरुष रूपी नारायण में बंट कर नारायण शेष नहीं हो जाती वह इनसे परेश इनसे उत्तम है। अतः उसे पुरुषोत्तम नाम दिया। नामों की ये भिन्नताएं केवल सापेक्षिक रूप से परमात्मा की भूमिका स्पष्ट करने के लिए है और कुछ नहीं।

इस प्रकार तत्वतः जड़ चेतन सभी को एक समझ लेने पर भी बाह्य रूप से भिन्नता तो है ही जिसे नकारा नहीं जा सकता। अर्जुन एक राजनेता है। उसे विभिन्न लोगों से काम लेना है, उनके साथ व्यवहार करना है। भगवान तो उसे जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र सिखा रहे हैं। अतः जरूरी है है कि तत्व की एकरूपता के विवेचन के साथ प्रकृति की भिन्नता की भी पूरी जानकारी दी जाए। मनोविज्ञान तो हर सफल व्यक्ति के लिए जरूरी है। एक मां के भी दो बच्चे हैं। एक हृष्ट पुष्ट, दूसरा अपंग, तो वह दोनों से एक सा व्यवहार नहीं करती। दोनों उसके अपने ही हैं, अपना ही खून है, पर व्यवहार में अंतर करना आवश्यक है। इसमे प्यार कम अधिक होने की बात नहीं। किस समय किसे कैसी आवश्यकता है, बात इसे समझने की है। गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान ने विभिन्न प्रकृति के लोगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

जग में मूलत: तीन प्रकार के लोग होते हैं। कुछ तो सत्वगुण प्रधान होते हैं- शांत, मधुर, दयालु, स्नेही। सबके साथ मीठा बोलते हैं, दूसरों के सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे स्वयं भी प्रसन्न चित्त रहते हैं और जहां जाते हैं वहां भी खुशियां बिखेरते हैं। ऐसे लोगों को दैवी स्वभाव वाला पुरुष कहा जाता है।

इनसे भिन्न आसुरी स्वभाव वाले होते हैं। उनकी प्रकृति में रजस और तमस की प्रधानता होती है। इनके पास तीक्ष्ण बुद्धि होती है। ये कर्मशील भी होते हैं। जो चाहे पा लेने की संकल्प शक्ति भी होती है, अच्छे बुरे की पहचान भी एक हद तक होती है, लेकिन व्यवहार के समय वे अपनी प्रकृति के सम्मुख विवश होते हैं। समझते-बूझते भी गलत काम कर बैठते हैं। अपने दंभ, अभिमान तथा उच्च आकांक्षा के कारण वे श्रेय मार्ग से च्युत हो कर ऐसा व्यवहार करते हैं कि चारों ओर नारकीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्ति स्वयं भी चिड़चिड़े, कुंठित और दुखी होते हैं, दूसरों को भी दुख ही बांटते हैं। इन्हें आसुरी स्वभाव वाला पुरुष कहा जाता है।

एक तीसरी प्रवृत्ति है- राक्षसी। ये लोग दूसरों को दुख पहुंचाने में ही आनन्द पाते हैं। किसी को रुलाए किना इन्हें भोजन नहीं पचता। अपनी शक्ति का प्रदर्शन वे दूसरों को सताकर ही करते हैं। ये तो ऐसे हीन प्रवृत्ति के हैं जिन्हें अपने चरित्र की निकृष्टता का ज्ञान और विवेक भी नही होता। इनका उत्थान इस जन्म में तो असंभव प्राय होता है। अंगुलिमाल और रत्नाकर जैसे बिरले ही होते हैं जिनका न जाने कब का पुण्य उदय हो कर उनकी पहचान संतों से करा देता है और वे बदल जाते हैं। पर सामान्यत: इन्हें बतलाने पर भी ये अपनी गलतियां कदापि नहीं समझेंगे। इनका सुधार तो अनेकानेक योनियां भोगने के बाद ही संभव है। न अपना न दूसरों का ही पुरुषार्थ इनमें सुधार ला सकता है। अत: गीता में इनके विषय में विशेष कुछ नहीं कहा गया है।

संसार में सबसे अधिक संख्या आसुरी प्रवृत्ति के लोगों की है। इन्हें आत्मविकास का उचित निर्देशन मिल जाए और ये कटिबद्ध हो जाएं तो आसुरी प्रवृत्ति को त्याग कर दैवी सम्पदा अर्जित कर सकते हैं। गीता का सोलहवां अध्याय इनके लिए आत्म विकास की निर्देशिका है।

यदि किसी के चेहरे पर कालिख लगी हो और उसे इसका ज्ञान न हो तो वह शान से अपने को सबसे सुन्दर समझते हुए बाजार से निकलेगा। लोग उसे देख कर खिल्ली उड़ाएंगे, कुछ मुंह फेर कर हंसेंगे, कुछ व्यंग्य करेंगे। उसे सब पर क्रोध आएगा, उन्हें बुरा भला कहेगा। उनसे अपने अपमान का बदला लेने की ठानेगा। लेकिन यदि कोई स्नेही मित्र उसे दर्पण दिखा दे तो उसे तुरंत पता चल जाएगा कि उसका चेहरा ठीक नहीं। इसके बाद तो जब तक वह कालिख को साफ न कर ले उसे चैन नही आएगा। भगवान भी इस स्नेही मित्र की तरह हमें इस अध्याय में दर्पण दिखाते हैं। हम अपने आप को देख लें कहां कालिख लगी है। आसुरी प्रवृत्तियों का वर्णन पढ़ने के बाद चिंतन मनन करेंगे तो हमारे ज्ञानचक्षु हमें अपने चेहरे की कालिख दिखा देंगे। दैवी प्रकृति के वर्णन हमें यह समझाएंगे कि हमें कैसा बनना है। इस प्रकार समझ कर साधना करनी होगी।

सोलहवें अध्याय का अध्ययन आरम्भ करने के पहले एक बात बहुत ही अच्छी तरह समझ लें। गीता आत्म विज्ञान है। दैवी आसुरी सम्पति का वर्णन इसलिए किया गया है कि हम अपनी आसुरी प्रवृत्तियों को पहचानें और उन्हें दूर कर दैवी प्रवृत्ति के लिए प्रयत्न करें। यह वर्णन इसलिए नहीं किया गया कि हम जाने हमारा कौन सा मित्र, भाई, चाचा, आसुरी है। यह वर्णन इसलिए नहीं किया गया कि हम दूसरों को उनकी गलतियां बताने लगें। जब भी इस अध्याय के अध्ययन के समय अपने मन की आंखों के सामने कोई दूसरा आकर खड़ा होने लगे तो उसे तुरंत हटा दें। सावधानी रखें। जांच परख आपको अपनी करनी है, दूसरे को नहीं। सुधार का प्रयत्न अपने आप के लिए करना है दूसरों के लिए नहीं। हम चाह कर अपनी ही गलतियां सुधार नहीं पाते तो दूसरों की कैसे सुधारेंगे। दूसरे तो जैसे भी हैं उन्हें वैसे ही स्वीकार करने वाला ही शांत चित्त रह सकता है। सोलहवें अध्याय के आरम्भ में दैवी पुरुष के लक्षण क्रमवार बताए गए हैं।

श्री भगवाननुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।१।।

भय का अभाव, अन्त:करण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और अन्त:करण की सरलता।

दैवी प्रकृति वाले पुरुषों के नौ लक्षण प्रथम में बताए गए हैं। सुनने में ऐसा लगता है कि विभिन्न सद्गुणों की एक लिस्ट बना दी गई, लेकिन बात ऐसी नहीं। भगवान द्वारा बताए गए गुणों की सूची में हर गुण अगले के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है।

दैवी पुरुषों के लक्षण में पहला स्थान है अभय का। भय का मुख्य कारण होता है अज्ञान। बच्चे अंधेरे में जाते हुए डरते है- 'पता नहीं वहां क्या है?' 'पता नहीं क्या होगा?' सोच-सोचकर भी हम कोई भी नया काम करने, किसी भी नई जगह जाने में डरते हैं। जिसे यह ज्ञान है कि सर्वत्र एक ही परमात्मा है, जिसे यह विश्वास है कि मेरे मुरली मनोहर सदा मेरे साथ हैं, वह कहीं भी जाने में, कुछ भी करने में भला क्यों कर हिचकेगा? जिसे पता है कि आत्मा अविनाशी है वह भला मृत्यु से क्यों डरेगा? समस्त साधनों और संपूर्ण ज्ञान का अमृत फल है **अभय**। अभय को दैवी लक्षणों की सूची में पहला स्थान देकर भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि हमें पुराणों में वर्णित स्वर्गलोक में वास करने वाला देवता नहीं बनना है। मानव का देवत्व तो उसके आध्यात्मिक उत्थान का ही परिचायक है। हम अपने सत्य स्वरूप को नहीं जानते इसलिए भयभीत रहते हैं। एक कोमल जीभ बत्तीस दांतों के बीच रहती है लकिन हमें अपने जीभ की सुरक्षा का भय नहीं लगता क्योंकि दांत भी हमारे हैं और जीभ भी हमारी ही है।

यदि हम अपने अज्ञान, अपनी अविद्या को दूर कर लें तो अभय का गुण स्वयमेव आ जाएगा। अविद्या के कारण हमारा सत्य स्वरूप हमसे छिपा रहता है। रजस, तमस के मल को दूर करने पर सत्व की वृद्धि होती है जो अभय के लिए आवश्यक है। इसे कहते हैं **सत्व संशुद्धि**। साधक के लिए आवश्यक है कि इसके महत्व को समझ कर अपना चित्त आत्मज्ञान की प्राप्ति की ओर लगाए। जब हमें कोई वस्तु दिखाई पड़ती है तब उसे पाने के लिए ही हम दूसरी वस्तु को छोड़ने के लिए तैयार होते हैं। **ज्ञान योग में दृढ़** होने पर ही हम अपनी निम्न प्रवृत्तियों से अपने आप को अलग कर पाएंगे।

अपने आप को भोगों से हटाकर योग में व्यवस्थित करने के लिए साधक को जिन गुणों का विकास करना होगा उसमें पहला है **दानम्।** जब तक मनुष्य का झुकाव अपने सुख के लिए अधिक से अधिक धन तथा वस्तुएं जमा करने पर रहेगा तब तक वह दान नहीं कर सकता। गलत तरीके से, धोखाधड़ी करके कमाए हुए धन को अखबारों में फोटो छपवाते हुए किसी को भेंट कर देना दान नहीं है। दान की भावना तो हृदय से उत्पन्न होती है जब हमारे हृदय में दूसरों के लिए इतना प्यार है कि हम उनके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझने लगते हैं। अतः अपने पास अपनी मेहनत से कमाया हुआ जो भी है उसे दूसरों को भी बांटना चाहते हैं तब जो होता है उसे दान कहते हैं। दान केवल धन का नहीं, विद्या, प्रेम और सहानुभूति का भी होता है। किसी को सुख पहुंचाने की कामना से किया गया कोई भी कर्म दान है।

दान तब तक मनुष्य नहीं कर सकता जब तक वह इन्द्रिय भोग की लालसा पर विजय न पाले। जब तक किसी वस्तु के लिए अपने मन में लालच बना रहेगा तब तक हम उसे दूसरे को कैसे देंगे? इसीलिए भगवान अगला लक्षण बताते हैं **दमः।** इन्द्रियों के स्तर पर किए गए त्याग को हम दम कहते हैं। यदि हम इन्द्रियों का दमन नहीं करेंगे तो उनकी लालसा तो अंतहीन विष बेल की भांति बढ़ती जाएगी। हम कितना भी अर्जित क्यों न कर लें, हमें वह अपने लिए कम ही मालूम देगा। अतः दमन के बिना दान संभव नहीं। दमन अर्थात् इन्द्रिय निग्रह के द्वारा ही हम अपनी शारीरिक शक्ति को भी संचित कर उसे महान कार्यों में लगा सकते है। इसके बिना देवत्व की प्राप्ति कोरी कल्पना ही है।

दान और दमन आदि गुणों का विकास तभी संभव है जब हम अपने आप को क्षुद्र स्वार्थ के घेरे में संकुचित न करके सबके साथ मिलजुल कर रहें। हमारे कर्मों में बंधुत्व की भावना हो। हम मिलजुल कर सर्वजनहिताय कार्य करें। इस भावना से किए गए सामूहिक कर्म को **यज्ञ** कहते हैं जिसके विषय में विस्तार से भगवान तीसरे अध्याय में बता चुके हैं।

उपरोक्त गुण व्यर्थ गाल बजाने से नहीं आ जाते। किसी के कहने मात्र से हम संयम के मार्ग पर चलना आरंभ नहीं कर सकते। हम अच्छी

पुस्तकें पढ़कर, महात्माओं की संगति में रहकर इन बातों को जानें फिर स्वयं चिंतन और मनन करें, तभी ये बातें हृदय में इतनी गहरी बैठेगी कि अन्ततः सत्कर्मों के रूप में प्रकट होने लगे। इसीलिए इस श्लोक में अगला लक्षण बताया गया है, **स्वाध्याय।**

स्वाध्याय कर अपने आप को आत्म-विकास के पथ पर बढ़ाने का प्रयत्न करना है तो **तप** परम आवश्यक है। शरीरिक स्तर पर हम किसी सुख का त्याग करते हैं और उसके बदले उस शक्ति का व्यय किसी उच्चतर सिद्धि के लिए करते हैं तो वह तप कहलाता है।

ये सब गुण तब तक नहीं आ सकते जब तक मनुष्य के स्वभाव में सरलता न हो। इसीलिए अगला गुण बताया **आर्जवम्।** मनुष्य जब चाहता है कुछ और करता या दिखाता कुछ और है तब वह धूर्त या ठग कहलाता है। हम यदि किसी स्वार्थ पूर्ति की चाह हृदय में छिपाकार तप, दान, स्वाध्याय करना चाहें तो व्यक्तित्व का विकास तो क्या होगा, वह तो विखंडित हो जाएगा। सरलता, ऋजुता के बिना दैवी गुणों का विकास कभी नहीं हो सकता।

इस प्रकार अभय के लिए सत्व का विकास, सत्व संशुद्धि के लिए ज्ञान योग, ज्ञान के लिए दान, दान के लिए दमन, दमन के लिए यज्ञ, तथा इन सबके लिए स्वाध्याय और सरल हृदय परम आवश्यक है। इसलिए भगवान ने क्रम से इनका उल्लेख किया है। यही क्रम हमें अगले श्लोक में भी मिलता है। भगवान कहते है:-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२।।

अहिंसा, सत्य, क्रोध का न होना, त्याग, शांति, द्वेषपूर्ण वचन न कहना, सभी प्राणियों के प्रति दया, लोभ न होना, कोमलता, विनम्रता तथा व्यर्थ चचंलता का अभाव।

प्रथम श्लोक में दैवी पुरुष के नौ लक्षण बताने के बाद उसी क्रम में भगवान ने इस श्लोक में बारह और लक्षण बताए हैं। इस श्लोक में पहला

लक्षण बताया है **अहिंसा।** साधारणत: लोग अहिंसा का अर्थ शारीरिक स्तर पर लेते हैं और किसी की हत्या न करना या शारीरिक रूप से कष्ट न पहुंचाने को अहिंसा मानते है। लेकिन शारीरिक रूप से तो हम हिंसा से बच ही नहीं सकते। पेड़-पौधों में भी जान होती है अत: शाकाहार भी हिंसा ही होगी। प्रकृति का यह नियम ही है, एक प्राणी अपने जीवन के लिए दूसरे पर आधरित होता ही है। केवल भोजन ही नहीं, हमारे अन्य क्रिया-कलापों में भी कितने ही प्राणी रोज मरते हैं, कितनों को ही क्षति पहुंचती है। हम कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, इस हिंसा से बचना असम्भव है। फिर क्या कारण है कि हमारे शास्त्र बार-बार अहिंसा-अहिंसा कहते रहते हैं? क्या यह मिथ्याचार नहीं?

वास्तव में हिंसा का हमें व्यापक अर्थ ग्रहण करना होगा। अध्यात्म शास्त्र शारीरिक स्तर कर बात करता ही नहीं, वह तो अंत:करण का विज्ञान है, अत: हिंसा का अर्थ हमें मानसिक और बौद्धिक स्तर पर समझना होगा। अहिंसा का अर्थ कष्ट या पीड़ा **न पहुंचाना** नहीं। अहिंसा का अर्थ कष्ट या पीड़ा **पहुंचाने की भावना न होना** है। यह अंतर एक कातिल को सर्जन से अलग करता है। दोनों के ही चाकू लगाने के करण एक-एक व्यक्ति मारा गया है लेकिन सर्जन को हम कातिल नहीं करते क्योंकि उसका उद्देश्य, उसकी भावना व्यक्ति को मारने की नहीं, जिलाने की थी। सैनिक तो सैकड़ों लोगों को मारता है पर उसका उद्देश्य किसी को मारना नहीं, अपनी मातृभूमि की रक्षा होती है। अत: महत्व कार्य का नहीं, कार्य को प्रेरित करने वाली भावना का है। न्यायालय में किसी हत्या के केस की सुनवाई के समय यह खोजबीन की जाती है कि हत्या षड्यंत्र करके की गई या अनजाने में हो गई। अनजाने में हुई हत्या को दुर्घटना करार करके अभियुक्त को रिहा कर दिया जाता है। हिन्दुओं के तो सभी देवी-देवता शस्त्रधारी हैं। हमारा अहिंसा व्रत ऐसा नहीं होना चाहिए कि लोग कमजोर समझकर हम पर टूट पड़ें और हम अपना बचाव भी न कर सकें। हमारे किसी कार्य से किसी को भी क्षति न पहुंचे ऐसी भावना का नाम ही अहिंसा है।

सत्य वह है जो हर काल-हर स्थिति में एक ही हो, बदले नहीं। जो बात जैसी कल थी वैसी आज भी हो और कल भी रहे तो हम कहेंगे यह सत्य है। इस परिभाषा के अनुसार ही ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या

कहा जाता है। बाहरी जगत का रूप तो बदलता रहता है। हम जैसे कल थे वैसे आज नहीं रहते। कर्मचारी को डांटने वाला अधिकारी अपने बॉस के आते ही भीगी बिल्ली बन जाता है। किन्तु इस परिवर्तनशील जगत में नित्य शुद्ध-शुद्ध आत्मा अपरिवर्तनशील है, सत्य है। जब तक हम इस सत्य को नहीं जानेंगे तब तक अहिंसा पर दृढ़ रह ही नहीं सकते। इस सत्य के कारण ही हम सृष्टि के हर प्राणी को अपने से अभिन्न समझेंगे। तब किसी को कष्ट पहुंचाने की भावना का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

अक्रोध का अर्थ यह नहीं कि किसी पर क्रोध दिखाया ही नहीं जाए। बहुत स्थानों पर अनुशासन के लिए डांटना-डपटना जरूरी हो जाता है, पर इस क्रोध प्रदर्शन में किसी के प्रति घृणा या द्वेष न हो, अपना अहंकार न हो बल्कि सबके हित की भावना ही हो। जैसे मां अपने बच्चे को डांटती है तो द्वेष से नहीं वरन् उसी भलाई के लिए। हम क्रोध दिखा पाएं, पर क्रोध हम पर हावी न हो ऐसी स्थिति को अक्रोध कहते हैं। लोग तो क्रोध के वश में स्वयं अपनी ही वस्तुएं तोड़ फोड़ डालते हैं, ऐसा क्रोध नहीं होना चाहिए।

अक्रोध की स्थिति को प्राप्त करने के लिए **त्याग** की भावना परम आवश्यक है। क्रोध हमें तब आता है तब हमें इच्छित सुख, सुविधाएं, भोग इत्यादि नहीं मिलते। त्याग की भावना रखने वाला व्यक्ति इन सबके प्रति आसक्ति नहीं रखता अतः वे मिलें या न मिलें, उसके लिए कोई अन्तर नहीं। ऐसी स्थिति में उसे क्रोध नहीं आएगा।

यदि मनुष्य दूसरे का अहित चाहे बिना सत्य पर दृढ़ रह कर अपने क्रोध पर काबू रखने के लिए त्याग की भावना विकसित कर ले तो उसे मानसिक **शांति** मिलेगी। उसकी प्रकृति ही ऐसी हो जाएगी कि चारों ओर कितनी भी उथल-पुथल हो, कितनी भी समस्याएं आएं, इन सबके बीच रहते और कर्म करते हुए चित्त की शांति कभी भंग नहीं होगी।

अगला गुण है **अपैशुनम्** अर्थात द्वेषपूर्ण वचनों का न कहना। वास्तव में कड़वे वचन हमारे हृदय की घृणा-द्वेष आदि की देन है। जब कोई व्यक्ति हमें बुरा लगता है, उसके कर्म से हमें घृणा या ईर्ष्या होती है, तब अनायास ही हमारे मुख से कटु वचन निकल जाते हैं। लेकिन यदि मन शांत हो, उसमें किसी के अहित की भावना न हो, त्याग की भावना हो तो हृदय में कड़वाहट

उत्पन्न ही नहीं होगी। अतः जो वचन निकलेंगे वे मधुर ही होंगे।

मधुर वचनों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा है **सभी के प्रति दया** का भाव। हमसे कोई पद, मान, प्रतिष्ठा में ऊंचा है उसके प्रति तो ईर्ष्या-द्वेष का अभाव हमारे व्यवहार को मृदुल बना सकता है पर जो व्यवहारिक स्तर पर हमसे निम्न है उसके प्रति दया की भावना होगी तो हम उसका तिरस्कार नहीं करेंगे। उसकी गलतियों को भी हम कमजोरियां मानकर सहृदयता के साथ स्वीकार करेंगे और मीठे व्यवहार के द्वारा उसे अपनाने का प्रयत्न करेंगे।

किसी भी प्राणी पर दया तब तक नहीं हो सकती जब तक हमारा चित्त **अलोलुप्त** अर्थात् लोभ रहित न हो। डाक्टरी का पेशा दया पर आधारित है, उसे तो अपने पास आने वाले सभी रोगियों से मधुर व्यवहार करना है। किन्तु जिस डाक्टर को धन का लोभ होता है वह दया बिल्कुल भुला बैठता है। अमीर मरीजों का सत्कार कर गरीबों को धक्के देकर बाहर निकलवा देने में उसे जरा भी संकोच नहीं होता।

ये सब गुण जिस व्यक्ति के चरित्र के समाविष्ट हैं उसमें **मार्दवम्** अर्थात् कोमलता और **ह्रीः** अर्थात विनम्रता का गुण अवश्य होगा। ये दोनों लक्षण तो दया, शांति, अहिंसा आदि गुणों से अभिन्न हैं।

श्लोक में अंतिम लक्षण **अचापलम्** बताया गया है। इन्द्रियों की चपलता अस्थिर दिमाग की निशानी है। जब हमारा मन अस्थिर होता है, हम 'क्या करें क्या न करें' की स्थिति में होते हैं तो व्यर्थ शारीरिक क्रियाएं करते हैं। कभी हाथ मसलते हैं, कभी सर धुनते हैं, कभी इधर-उधर घूमते हैं। लेकिन जब मन शांत होता है, किसी के प्रति घृणा का भाव नहीं होता, किसी वस्तु का लोभ नहीं होता, किसी को नीचा दिखाने या अपमान करने की बात मन में नहीं होती तो मन के साथ-साथ इन्द्रियां भी स्वयमेव शांत हो जाती हैं।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।३।।

तेज, क्षमा, धैर्य, शुचि, अद्रोह, अति अभिमान का न होना- हे भारत ये सब उसके गुण हैं जो दैवी सम्पदा से युक्त है।

मनुष्य में अन्य गुणों के साथ-साथ **तेज** का होना भी परम आवश्यक है। तेज का अर्थ चेहरे की वह चमक नहीं जो रईसाना जिन्दगी जीने, ब्यूटी पार्लर जाने और शरीर की आवश्यकता से अधिक देखभाल करने से आती है। यह तो मनुष्य के अन्दर का एक गुण है जो तीक्ष्ण बुद्धि, उत्साह, सतर्कता, दृढ़ता और प्रबल कार्यशक्ति से आता है। 'मुझे हिंसा पसंद नहीं, मैं तो शांतिप्रिय हूं, मैं किसी से बैर नहीं करना चाहता, जिसका जो जी चाहे करे, चलने दो जैसा चलता है, कौन माथा लगाए ... ऐसे ढीले-ढाले व्यक्तित्व वाला व्यक्ति सांसारिक ही नहीं, आध्यात्मिक उन्नति भी नहीं कर सकता, न ही उसके चारों ओर का वातावरण व्यवस्थित और आनन्ददायक हो सकता है।

महापुरुषों की तस्वीरों में उनके मुख के चारों ओर एक चमकीला गोला बनाया जाता है। यह प्रभामंडल उनके तेज का प्रतीक है। उनके चेहरे से प्रकाश की किरणें फूटती नहीं, यह तेज तो चारों ओर वातावरण में हम देख पाते हैं। दया और करुणा के साथ उनकी आंखों से बुद्धिमानी टपकती है। उनका मुखमंडल तनाव रहित और शांत होता ही है। उनका आनन्दी स्वभाव दूसरों को भी शांति की अनुभूति कराता है। ऐसे महापुरुष न उदास रहते हैं न सबके प्रति उदासीन। वे तो असाधारण कार्यकुशलता के साथ भी आनन्द का अनुभव करते हैं और दूसरों की भी खुशियां बांटते हैं। यही है उनका प्रभा मंडल।

दैवी पुरुष में एक और गुण होना परम आवश्यक है, वह है **क्षमा।** संसार के सभी व्यक्ति सभी समय हमारे अनुकूल हो ही नहीं सकते। जब हम स्वयं अपने ही स्वभाव के वश में होकर जैसा करने की सोचते हैं वैसा कर नहीं पाते तो दूसरे वैसा कैसे करेंगे जैसा हम सोचते हैं। यदि हमने एक व्यक्ति के एक भी उपकार या दुर्व्यवहार को दिल में बैठा लिया, उसे क्षमा न कर पाए तो परमात्मा के ध्यान के सारे प्रयत्न मिट्टी में मिल जाएंगे। 'वह अपने आप को समझता क्या है ... मैं उसे अच्छी तरह देख लूंगा ... उसे पता चल जाएगा वह कौन है और मैं कौन हूं।' यही होगा हमारा चिंतन, हमारा ध्यान।

क्षमाशीलता के साथ-साथ **धैर्य** भी होना आवश्यक है। जीवन में हर कार्य में सैकड़ों बाधाएं आती हैं। कमजोर व्यक्ति तो कुछ एक का सामना

करने में ही इतना घबरा जाता है कि काम को बीच में छोड़कर भाग खड़ा होता है। फिर वह दूसरा काम करेगा। बाधाएं तो उसमें भी आएंगी ही। भागने से तो समस्याएं हल हो ही नहीं जाती। हमें तो उनका डटकर मुकाबला करना होगा। अपने लक्ष्य के प्रति समर्पण और आस्था रखने से धैर्य का गुण विकसित होगा। कष्ट सहने के लिए तैयार रहें। आदर्श को सदा सामने रखें। अलग-अलग समस्याओं को अलग-अलग ढंग से सुलझाना पड़ता है। गंगा को देखें। मानवता की सेवा के लिए हिमालय से पतली धार के रूप में निकली गंगा के सामने कितनी रुकावटें आती है। छोटे-छोटे पत्थरों के ऊपर से तो वह आसानी से निकल जाती है। जरा बड़े पत्थर हों तो खिलखिलाती है, और बड़े हों तो गर्जना करते हुए उन्हें पार करती है और यदि सामने कोई पहाड़ आ गया तो चुपचाप उसके बगल से घूम जाती है मानो उसे पहाड़ से कोई लेना देना ही न हो। हमें भी अपनी कुछ समस्याओं का सामना हंसते हुए, किसी का जूझते हुए और किसी को चुपचाप अनदेखा करते हुए अपने लक्ष्य की ओर दृढ़ता से बढ़ते जाना है।

अगला लक्षण है **शुचि।** मैले कुचैले वस्त्र पहने गंदे में रहने वाला व्यक्ति यह कहे कि बाहर गंदगी है तो क्या हुआ, मेरा मन तो साफ है, तो भगवान कृष्ण इसे नहीं स्वीकार करते। वे तो अन्त:करण की निर्मलता के साथ बाहरी शुचिता की मांग करते हैं। साफ रहने के लिए धनवान होना आवश्यक नहीं। आलीशान महलों के सजे सजाए ड्राइंग रूम के बाद सारे घर में गंदगी फैली हो सकती है और गरीब के झोपड़े के दो चार अल्यूमिनियम के बरतन भी चमकते हुए पाए जा सकते हैं। हमारे तो मंदिरों में ही कहीं-कहीं इतनी गंदगी होती है कि वहां जाकर प्रभु के ध्यान की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अगला गुण है **अद्रोह।** मेरे कारण संसार के किसी प्राणी को दुख न पहुंचे, यह है अद्रोह। हम जब जानबूझकर किसी को दुख पहुंचाते हैं, उसका अपमान करते हैं, उसे नीचा दिखाते हैं तो उसके मूल में द्रोह ही होता है।

दैवी पुरुष का अंतिम लक्षण है **न अति मान।** अभिमान मनुष्य के अध्यात्मिक उत्थान में प्रबल बाधक है। अभिमान के विभिन्न रूपों का उल्लेख हमें अगले श्लोक में मिलेगा।

इस प्रकार छब्बीस गुणों के नाम लेने के बाद भगवान कहते हैं कि ये गुण दैवी पुरुष की वह सम्पत्ति है जिनके साथ वह जन्मा है। तात्पर्य यह है कि ये उसकी आन्तरिक सम्पदा है। उल्लेखनीय यह है कि भगवान ने इतनी सारी सम्पतियां गिनाई, कहीं भी सोने, चांदी, हीरे, जवाहरात, बैंक एकाउंट या जमीन जायदाद का नाम नहीं लिया। ये सब तो बाहरी सम्पदा है जिन्हें हम पुरुषार्थ या धोखाधड़ी के बल पर प्राप्त करते हैं। गीता आत्म ज्ञान है और हमारे मन बुद्धि के गुण दोषों की ही चर्चा करती है। आन्तरिक सम्पदा ही ज्यादा महत्वपूर्ण है। बाहरी सम्पदा, धन आदि नष्ट भी हो जाए तो जिस व्यक्ति में विद्या, बुद्धि, कुशलता, मेहनत, धैर्य आदि गुण हैं वह उन्हें प्राप्त कर लेगा। बाहरी सम्पदा को मनुष्य बनाता है, सम्पदा मनुष्य को नहीं बनाती। कहीं-कहीं सम्पत्ति के बल पर मनुष्य को बड़ा आदमी बनते देखा जाता है पर ऐसा बड़प्पन टिक नहीं पाता। मनुष्य को 'बनाने' वाली तो ये दैवी सम्पदा ही हैं। अब आसुरी लक्षण बताते हुए भगवान कहते हैं:-

दम्भो दर्पोभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।४।।

हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, वाणी की कटुता तथा अज्ञान उनके लक्षण हैं जो आसुरी प्रवृत्ति के साथ जन्मे हैं।

आसुरी स्वभाव वाले पुरुष राक्षसी व्यक्तियों की भांति इतने बुरे नहीं होते कि दूसरों को दुख दे कर ही मनोरंजन करें। ये तो वे व्यक्ति हैं जो अपने आत्मरूप को नहीं जानते। अपनी दिव्यता का ज्ञान उन्हें नहीं होता अतः बुद्धिमान होते हुए भी ये व्यवहार ऐसा करते हैं कि इनका अपना जीवन भी नारकीय होता है और उनके सम्पर्क में रहने वाले भी दुखी हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं कि वे समझते नहीं कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। लेकिन सब कुछ समझते हुए भी अपनी चारित्रिक कमजोरी के कारण अच्छे 'बन' नहीं पाते। हां, जहां अपना स्वार्थ हो वहां अच्छे होने का दिखावा करना खूब आता है। किसी से मदद चाहिए तो उसके पास जाएंगे, उसकी प्रशंसा करेंगे, अपने तो उसका सबसे बड़ा शुभचिन्तक साबित करने में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे। लेकिन यदि

स्वार्थ नहीं सधा तो गालियों की बौछारें छोड़ते हुए उसके घर से निकलेंगे। गालियों के महामन्त्र तब तक जपे जाएंगे जब तक कि दोबारा उससे कोई काम न पड़ जाए। काम पड़ते ही प्रशस्ति गान फिर मुखरित होने लगेंगे। इस प्रकार व्यक्ति बाहर से कुछ और होता है भीतर से कुछ और। सामने कुछ और दिखाई देता है पीठ पीछे कुछ और। इसे ही **दम्भ** या पाखण्ड कहते हैं। अपने कलुषित चरित्र और कुत्सित इरादों पर खादी का सा शुभ्र आवरण डाल कर समाज सेवी कहलाना आसुरी प्रवृत्ति का पहला लक्षण है।

दर्प और अभिमान में सूक्ष्म अंतर है। दर्प अपने आप से सम्बन्धित है और अभिमान अपनी वस्तुओं व्यक्तियों से संबन्धित है। दर्प का अर्थ है आत्ममुग्ध होना। अपने आप को सबसे बुद्धिमान, गुणवान समझना और दूसरों को हीन और तुच्छ। अपनी सुन्दरता, शिक्षा, पद, कुल आदि के दर्प में डूबा मनुष्य आपने चारों ओर एक खाई खोद लेता है जिसे कोई दूसरा पार नहीं कर सकता। वह स्वयं को कितना ही महान समझे, दूसरों के आदर और प्रेम का पात्र नहीं बन सकता। कमोबेश यही स्थिति **अभिमानी** की होती है। 'मेरे बंगले के लिए फ्रांस से आर्किटेक्ट आया है, मेरे बाथरूम में इटालियन टाइल्स लगी है, मेरी कार में विश्व का सबसे बढ़िया स्टीरियो लगा है ...' ऐसा कहने वाले व्यक्ति को लगता है कि वह दूसरों को प्रभावित कर रहा है पर सच तो यह है कि उसके पल्ले ईर्ष्या और द्वेष के अलावा और कुछ नहीं पड़ते।

दम्भी, दर्पी और अभिमानी पुरुष अपने आप की नजरों में तो बहुत महान होता है लेकिन दूसरों की नजरों में हंसी, घृणा या ईर्ष्या का पात्र। जब उसे अपेक्षित सम्मान नहीं मिलता तो उसे **क्रोध** आता है। क्रोध के कारण उसकी वाणी में कड़वाहट आ जाती है जिसे **पारुष्य** कहते हैं।

इन समस्त लक्ष्णों- दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य के साथ भगवान ने एक लक्षण जोड़ा है **अज्ञान**। इससे भगवान की करुणा का पता चलता है। वे इन्हें धिक्कारते नहीं। जो जानबूझ कर गलत काम करते हैं उन्हें धिक्कारा जाता है लेकिन भगवान कहते हैं कि आसुरी व्यक्तियों के दम्भ दर्प इत्यादि का कारण अज्ञान है। ये सब प्राणियों को आत्मस्वरूप देख नहीं पाते अतः आसुरी व्यवहार करते हैं। इनके पास शिक्षा है पर ज्ञान नहीं। यह तो

भगवान का अनुग्रह है कि हमारे साथ इतने प्यार की भाषा बोल रहे हैं। लेकिन हम सावधान रहें। इस अज्ञान की आड़ में अपने दम्भ दर्प अभिमान क्रोध के अनौचित्य पर पर्दा न डालें। सोलहवां अध्याय तो दर्पण है। इसमें अपने रूप को भली भांति देख समझ कर भले बनने का प्रयत्न करें।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

दैवी सम्पत्ति तो मोक्ष के लिए है और आसुरी सम्पदा बन्धन प्रदान करती है। हे पाण्डव! तुम चिंता न करो। तुम दैवी गुणों के साथ जन्मे हो।

जो व्यक्ति दैवी गुणों से आभूषित होता है वह अपने आप को मुक्त अनुभव करता है। उसे किसी से भय नही, उसे कोई पराया नहीं लगता, उसे किसी से अपमान का बदला नहीं लेना, किसी को कष्ट पहुंचाने की उसकी चाह नहीं, उसके हृदय में किसी भी प्रकार की कटुता, क्रूरता, द्वेष, वैमनस्य नहीं। ऐसे व्यक्ति के विषय में क्या कहें! जिसके पास ये गुण होंगे उसका मन तो सदा मुक्त रहेगा। उसकी बुद्धि पर राग, द्वेष, घृणा, द्रोह, ईर्ष्या आदि का दबाव न रहने के कारण वह हर स्थान, हर स्थिति में प्रसन्नता पूर्वक विचरण करेगा। मन की थकान ही तो शरीर को सबसे अधिक कमजोर बनाती है। दैवी पुरुष का तेज तो दूसरों को भी शक्ति और प्रेरणा देता है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि दैवी सम्पत्ति हमें मोक्ष प्रदान करती है।

इसके विपरीत आसुरी व्यक्ति को तो हर आदमी अपना शत्रु ही नजर आता है। दूसरों से अपने को बचाने या दूसरों को मात देने के चक्कर में वह स्वभाव की सरलता खो बैठता है। अपने ही सोच विचारों के खोल में अपने को सिकोड़ता चला जाता है। अपने धन और सम्मान की सुरक्षा के भय से वह मुक्त होता ही नहीं।

भगवान की बातें सुन कर अर्जुन को शायद लगने लगे कि मुझमें तो तमाम आसुरी गुण मौजूद हैं, अब क्या होगा? करुणामय भगवान कुशल सारथी की भांति हमारे मन के इधर-उधर भटकने के पहले ही उसकी लगाम खींच लेते हैं। हमारे मन पर कोई तनाव आए तो उसके पहले ही हमसे कहते

हैं- तुम चिंता न करो। यह वे उससे कह रहे हैं जो उनके अलौकिक गीत को सुन रहा है। जिसने पन्द्रह अध्याय गीता धैर्य पूर्वक सुनी है उसके हृदय में अवश्य दैवी गुण छिपे हुए हैं। हो सकता है उसका देवत्व बाहर की धूल के कारण प्रकट नहीं हो पा रहा। भगवान हमारी पीठ थपथपाते हुए हमें उत्साहित करते हैं कि हम अपने देवत्व को पहचानें और उसके अनुकूल व्यवहार करने का प्रयत्न करें। हमारा जन्म मुक्ति के लिए हुआ है बंधन के लिए नहीं। हमने ऊंचे उठने के लिए नर देह धारण की है, नीचे गिरने के लिए नहीं।

इस संदर्भ में एक पौराणिक कथा उल्लेखनीय है। आकाश में बहुत ऊपर एक विशेष प्रकार के पक्षी विचरण करते हैं। इनकी आयु बहुत लम्बी होती है और सूर्य की किरणों से ही इन्हें उर्जा मिलती है। सैकड़ों वर्षों में एक बार मादा पक्षी नर के साथ संयोग कर बहुत अधिक संख्या में अंडे देती है। चिपचिपी झिल्ली से चिपके ये अंडे भी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण घूमते रहते हैं। अंडों के परिपक्व होने के समय किसी दैवी शक्ति से प्रेरित होकर वे नर और मादा वहां पहुंच जाते हैं। अंडे फूटते हैं और बच्चे थोड़ा सा बाहर निकलते हैं। मादा पक्षी उनके चारों ओर घूमती हुई कहती है- बच्चों, मेरे प्यारे बच्चों! खोल को तोड़ दो, आंखों को मींच लो और पंख फैलाओ।

लेकिन कोई ऐसा करने को तैयार नहीं। आधुनिक पीढ़ी जो ठहरी। कोई सोचता है- क्या उटपटांग बके जा रही है यह बुढिया! खोल के कारण ही तो हम सुरक्षित हैं। जरा सा सर निकालते ही हालत खराब हो रही है, और यह कहती है खोल को तोड़ दो। नहीं-नहीं। कोई उसे धोखेबाज समझते हैं क्योंकि वह आंखें मींचने को कह रही है। कोई सोचता है- पंख फैलाने को क्या कह रही है? पंख है कहां हमारे पास जो फैलाएं। इस प्रकार सब मुंह फेर लेते हैं।

उनमें बस दो तैयार होते हैं। एक तो अविश्वास के साथ इस झूठी का भंडा फोड़ने। दूसरा उस पर विश्वास कर, उसकी ममता और सहृदयता पहचान कर। दोनों जैसे ही खोल को तोड़ कर पंख फैलाते हैं, उन्हें मुक्ति का अनुभव होता है। नर पक्षी के साथ वे आकाश में विचरण करने लगते हैं किंतु मादा अब भी अंडों के चारों ओर 'बच्चों! मेरे प्यारे बच्चों!' कहती

घूम रही है। कोई नहीं सुनता उसकी। अंडे धीरे-धीरे नीचे गिरते हैं और वायु मंडल की सतह से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं।

कथा तो प्रतीकात्मक है। तत्व का ज्ञान समझाने की यह पौराणिक पद्धति है। श्रुति माता हमें मुक्त करना चाहती है। बार-बार कहती है- बच्चों, मेरे बच्चों! अपने दंभ दर्प अभिमान के खोल को तोड़ो, ध्यान में आंखें बंद करो और मन बुद्धि के पंख फैलाओ, मुक्ति तुम्हारे सामने है। लेकिन हम सुनने को तैयार नहीं क्योंकि हम आधुनिक हैं, हम बुद्धिवादी हैं, बिना ठोस सबूत के कुछ स्वीकार नहीं करते। हम धर्मनिरपेक्ष हैं अत: किसी एक की बात नहीं सुनते। और हम गिरते जा रहे हैं, नीचे ... और नीचे। एक दिन चूर-चूर हो जाएंगे पर अभी जो अस्थाई सुरक्षा मिल रही है उसे छोड़ने का साहस हम में नहीं है। गीता माता का सारा ध्यान इस अध्याय में अपने इन बच्चों पर केन्द्रित है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरश: प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

इस संसार में दो प्रकार के लोग हैं- दैवी और आसुरी। दैवी के विषय में मैंने विस्तारपूर्वक बतलाया। अब हे पार्थ! आसुरी के विषय में सुनो।

भगवान जब गीता गान आरंभ करते हैं उस समय कौरवों और पाण्डवों की सेना आमने सामने खड़ी रहती है। वास्तव में तो यह कुरुक्षेत्र हमारा अन्त:करण ही है। इसमें युद्ध चलता रहता है निरंतर-भलाई और बुराई का, सत् और असत् का, सद्प्रवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों का। हममें से कोई भी व्यक्ति न तो पूरी तरह भला है न पूरी तरह बुरा। इसीलिए युद्ध है और इसीलिए गीता की प्रासंगिकता है।

कहते हैं सतयुग में भी दैवी और आसुरी शक्तियां थी। पर उस समय दोनों बहुत दूर-दूर रहती थीं। देवताओं का निवास स्थान था स्वर्ग लोक और असुरों का स्थान था असुर लोक। इसके बाद त्रेता युग में एक पृथ्वी पर ही अयोध्या में राम थे और लंका में रावण। फिर भी पर्याप्त दूरी थी उनमें। द्वापर

में यही दूरी और सिमट आई। एक ही स्थान पर जहां दुर्योधन जैसा आसुरी व्यक्ति वहां युधिष्ठिर जैसे मूर्तिमान धर्म। जब भी दैवी और आसुरी प्रवृत्तियां आमने सामने होंगी, उनमें युद्ध होना अवश्यम्भावी है। कलियुग में यह दूरी और भी कम हो गई है। एक ही व्यक्ति के चित्त में दोनों प्रवृत्तियां विद्यमान है। कभी कोई जीतती है, कभी कोई सर उठाती है। लगातार इनमें संघर्ष होता रहता है। इस युद्ध में अन्ततः हमारा कल्याण हो इसके लिए गीता की बड़ी उपयोगिता है। इस दृष्टि से गीता की जितनी प्रसंगिकता आधुनिक युग में है उतनी कभी नहीं रही। हमें क्षण-क्षण इस युद्ध में भाग लेना होता है। क्षण-क्षण कभी हमारा मन हमें नैतिकता की बात कहता है, कभी इन्हें बकवास बताता है और क्षण-क्षण हम अर्जुन की भांति किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में रहते हैं। 'यह करूं कि वह करूं' सोचने वाला हर व्यक्ति अर्जुन है। युधिष्ठिर के मन में कभी परेशानी नहीं आई, न ही भीष्म पितामह या द्रोणाचार्य के। इन सबके गुण दोषों की चर्चा एक भिन्न विषय है। यहां हम अर्जुन की स्थिति को देखें जिसके हृदय में मोह, माया, ममता भी है और नैतिकता के मार्ग पर चलकर कल्याण प्राप्ति की कामना भी। लेकिन दोनों प्रवृत्तियां उसे इस कदर उलझा देती है कि वह कुछ नहीं समझ पाता।

इन विरोधाभासी प्रवृत्तियों को सुलझाना है तो पहले तो अलग-अलग अच्छी तरह समझना होगा। तब हममें अपनी दुष्प्रवृत्तियों के प्रति अधिक सजगता और संवेदनशीलता पैदा होगी। मनुष्य जब अपनी बुराई को अच्छी तरह पहचानने लगता है तभी वह बुराई दूर होती है। भगवान यहां विधेयात्मक और निषेधात्मक, दोनों उपाय काम में ला रहे हैं। दैवी प्रवृत्ति की महानता बताकर हममें यह चाह पैदा की कि हम इन्हें अपनाएं और अब वे असुरी प्रवृत्ति की निम्नता के बारे में विस्तार से बताने जा रहे हैं ताकि हममें उन्हें छोड़ने की इच्छा जागे।

हर व्यक्ति अपने आप की नजरों में बहुत महान, बहुत भला होता है। वह बड़ी-बड़ी बातें सोचता है। उनके अनुरूप व्यवहार नहीं कर पाता। पर उसके लिए उसके पास सैकड़ों बहाने होते हैं। दूसरी बात यह है कि चारों ओर अभिमान और स्वार्थ का नग्न नृत्य देख-देख कर हम उनके प्रति अपनी संवेदनशीलता खो बैठते हैं। हमें यही स्वाभाविक लगने लगा है। अपनी

सुविधा के अनुसार हमने नैतिक मूल्य बना लिए हैं। व्यापारी किसी दूसरे व्यापारी का एक रुपया भी हड़प जाना धोखा मानता है लेकिन सरकार को टैक्स न देने में उसकी आत्मा कचोटती ही नहीं। इस नाते चोर स्मगलर भी अपने को पक्का ईमानदार मानते हैं। ऐसी स्थिति में संक्षेप में दो चार लक्षण गिना देने भर से काम नहीं चलेगा, हम अपनी आसुरी प्रवृत्ति को ठीक से पहचान नहीं पाएंगे। अतः इस अध्याय में भगवान उनके व्यवहार का बड़ा ही विस्तृत वर्णन करते हैं। उनके सोचने की शैली और उनके द्वारा प्रयोग किए गए शब्दों को भी उन्होंने यथारूप प्रस्तुत किया है ताकि हम अपने को अच्छी प्रकार पहचान सकें। यह वर्णन पढ़ना आरंभ करने के पहले बार-बार स्मरण कर लें और बीच में भी बार-बार याद करते रहें कि हमें अपनी पहचान करनी है, दूसरों की नहीं। दूसरों की आसुरी प्रवृत्ति तो हमें ऐसे ही खूब समझ में आती रहती है उसके लिए गीता की जरूरत नहीं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

असुर जन नहीं जानते हैं कि किस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए किससे निवृत्त। उन्हें न शुचि का ज्ञान है न आचार का। वे सत्य को नहीं जानते।

व्यवहार से मनुष्य की प्रकृति की पहचान होती है। हम जीवन में किन बातों का महत्व देते हैं इसी पर सब कुछ निर्भर करता है क्योंकि इन जीवन मूल्यों के अनुसार ही हमारे विचार होते हैं और विचारों के अनुसार ही आचार व्यवहार। मूल्यों और विचारों को दूसरे नहीं देख सकते। जो दृष्टिगत होता है वह है व्यवहार। व्यवहार से ही विचार पहचाने जा सकते हैं।

यदि हमने अपने जीवन में सबसे अधिक महत्व शारीरिक सुख, भोग विलास को दिया है तो हम यही विचार करते रहेंगे कि किस प्रकार अधिक से अधिक धन कमाया जा सकता है। अत्यधिक धन कमाने के लिए किसी का अधिकार छीना जाता है, किसी का शोषण किया जाता है, किसी का गला काटा जाता है। धन लोलुप व्यक्ति अपनी इन्हीं योजनाओं में उलझा रहेगा।

योजना बनाने के बाद वह अमानवीय कर्म भी करेगा। धन आने के बाद भी उसके जीवन का बड़ा भाग भोग विलास की सामग्री जुटाने और धन को सुरक्षित रखने के उपायों में ही चला जाता है। इस प्रकार उसका व्यवहार उसकी प्रकृति की पहचान करा देता है।

भगवान कहते हैं कि असुर व्यक्ति न तो सफाई पवित्रता आदि पर ध्यान देता है न सद्व्यवहार पर। उसे तो केवल इतना ध्यान रहता है कि अमुक कार्य करने से मुझे अमुक लाभ होगा और वह उस काम में जुटा रहता है। वह काम करना चाहिए कि नहीं, यह वह नहीं सोचता। समाज को, देश को, उसके आसपास रहने वाले लोगों को इससे क्या नुकसान होगा, इसकी उसे परवाह नहीं रहती। जब उसके कुकृत्यों का भंडा फूटता है तो वह सोचता है कि उसकी बुद्धि खराब हो गई थी क्योंकि उसका समय खराब था। बुद्धि होती तो खूब है लेकिन प्रवृत्ति और निवृत्ति को समझने के लिए बुद्धि के साथ-साथ विवेक चाहिए वह गायब रहता है। इसलिए बुद्धि होते हुए भी चाल उलटी होती है।

आसुरी प्रवृत्ति के लोग सत्य को नहीं जानते। सत्य अर्थात् वह परमात्मतत्व जो सभी प्राणियों में हर देश, काल, परिस्थिति में समान रूप से विद्यमान है। भगवान ने पहले भी असुरों को अज्ञानी कहा था, अब भी ऐसी ही बात कह कर एक बार फिर करुणा का परिचय देते हैं। जैसे माता अपने बीस वर्षीय पुत्र की शिकायत करने वाले को कह देती है- 'मेरा बेटा बुरा नहीं है, वह नादान है, भोला है। उसे कुछ मालूम नहीं क्या करना चाहिए क्या नहीं।'

भगवान असुरों को धिक्कारते नहीं पुचकारते हैं, क्योंकि अज्ञानवश किए गए कर्मों का दुष्प्रभाव भी तो वे भोगते दिखाई दे ही रहे हैं। बुरे कर्म करते हैं तो दुख, कष्ट, पीड़ा, व्याधि, तनाव और अवसाद के शिकार भी तो स्वयं ही हो रहे हैं। घृणा और दुख बांटने वाले को स्वयं भी तो घृणा के साए में ही जीना पड़ता है।

जीवन और जगत के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या होता है यह बताते हुए भगवान कहते हैं-

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं- संसार में सत्य कुछ है ही नहीं। न इसका कोई (नैतिक) आधार है न ईश्वर है। संसार तो परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ है। यह तो काम भोग के लिए है, और क्या?

हम दूसरों की आलोचना में बड़े सिद्धहस्त होते हैं और अपने दुर्गुणों के प्रति आंखे मूंदे रहते हैं। कितना भी बड़ा पापी दुराचारी मक्कार क्यों न हो, वह यही कहता है- 'संसार में सब झूठा है, सच्चाई रह ही नहीं गई है। कोई वस्तु स्थिर नहीं है। आज कुछ है और कल कुछ। किसी पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यहां तो बस 'अपना काम बनाओ उसी में बुद्धिमानी है।' यह अंतिम वाक्य उसके व्यवहार का मूल होता है। अपने सारे दुष्कृत्यों का दोष वह समाज पर थोप लेता है। इस प्रकार संसार को असत् बताते हुए स्वयं असत् कार्यो में प्रवृत रहता है। आसुरी व्यक्ति शिक्षित होकर भी मूर्ख ही होता है। विज्ञान की बड़ी-बड़ी डिग्रियां रखने वाले सब जानते हैं इन सिद्धांतों को कि किसी भी परिवर्तन को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कोई अपरिवर्तनशील वस्तु संदर्भ के लिए न हो। फिर भी वह परिवर्तनशील जगत के संदर्भ में अव्यय परमात्मा की उपस्थिति को नकारता है। वह विज्ञान का सिद्धांत जानता है कि पदार्थ न बनाया जा सकता है न नष्ट किया जा सकता है फिर भी कहता है कि ब्रह्माण्ड अपने आप बन गया। वह प्रकृति के सारे नियमों को जानता है। वह अच्छी तरह जानता है कि प्रकृति इन सारे नियमों का पालन किस खूबी के साथ कर रही है फिर भी इनका नियंता किसी को मानने को तैयार नहीं। उसके विचार में तो यह संसार बस स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से बना है और इस विशाल सृष्टि का आधार भोग मात्र है। भोग से ही मानव उत्पन्न होता है, भोग के लिए ही संसार बना है अतः भोग के सिवा और कुछ नहीं।

विचार बताने के बाद उसका व्यवहार बताते हुए भगवान कहते हैं-

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।९।।

इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने वाले अल्प बुद्धि व्यक्ति जिनका चरित्र नष्ट हो गया है, वे संसार के शत्रु बन उसके विनाश के लिए उग्र कर्म करते हैं।

जो व्यक्ति संसार को चलाने वाली सर्वशक्तिमान सत्ता पर विश्वास नहीं करते, जो यह नहीं मानते कि मनुष्य का जीवन केवल जन्म लेने और भोग भोगते हुए मर जाने के लिए नहीं बल्कि एक निश्चित योजना के तहत किसी उच्च उद्देश्य से हुआ है, उनका चरित्र क्या होगा? नैतिकता के नाम पर तो वे बस स्वार्थ सिद्धि जानते हैं। जैसे लावारिस बच्चे जो सड़कों पर या गंदी बस्तियों में गुंडों, नशाखोरों के बीच पलते हैं वे बेचारे सभ्यता, संस्कृति की बात जानते ही नहीं। उन्हें पता ही नहीं होता कि कुल का गौरव, मान-मर्यादा, इज्जत क्या होती है, अतः वे बुरा से बुरा काम करने में भी नहीं हिचकते। वे बहुत चालाक हो सकते हैं, हमें भी ठग सकते हैं। फिर भी हम उन्हें बुद्धिमान तो नहीं कहते। हम उन्हें अल्प बुद्धि ही मानते हैं।

इसी प्रकार भोग लोलुप व्यक्ति को तो महलों में पल कर भी मानव शरीर के गौरव का ज्ञान ही नहीं होता। वह न भोला होता है न आलसी। वह तो उग्र कर्म करता है, अपने कर्म को पूरी लगन और मेहनत के साथ करता है पर अफसोस! उसकी महत्वकांक्षा दूसरों के घरों का जला कर राख कर देती है। उसके कर्म जगत का विनाश करने वाले होते हैं।

जिस व्यक्ति के पास सत्ता या धन की शक्ति, बुद्धि की तीक्ष्णता और महत्वकांक्षा जितनी अधिक होती है वह उतना ही अधिक विनाशकारी कार्य करता है। एक साधारण गुण्डा तो मामूली लूटपाट ही कर सकता है, अधिक से अधिक दो चार हत्याएं कर देगा लेकिन धनवान या कुर्सीवान व्यक्ति जब नैतिक मूल्यों को ताक पर रख कर अपनी क्षुद्र स्वार्थ सिद्धि में प्रवृत्त होता है तब विनाश का ताण्डव रचा जाता है। राजनीति में कुर्सी हथियाने के लिए नेतागण धर्म और मजहब के नाम पर हजारों लोगों को लड़वा देते हैं। उग्र कर्म का सबसे बड़ा उदाहरण है हिटलर, जिसकी महत्वाकांक्षा ने पूरे विश्व

को अपने में लपेट लिया था। मानवता अभी भी उसकी पीड़ा से कराह रही है। बड़े-बड़े राष्ट्र जब महत्वाकांक्षी हो जाते हैं और सारे संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं तब उसका नतीजा हिरोशिमा और नागासाकी के विध्वंस के रूप में प्रकट होता है। आज सारे विश्व में इतने हथियार बन गए हैं कि एक-एक बच्चा, एक-एक पशु-पक्षी तक दस-दस बार मारा जा सकता है। हथियारों का यह जमावड़ा सुरक्षा के नाम पर किया जा रहा है और असुरक्षा बढ़ती जा रही है। यह पागलपन नहीं तो और क्या है? क्या इसे बुद्धिमानी कहा जा सकता है?

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

पूरी न होने वाली कामनाओं के तले दम्भ, मान और मद से युक्त, मोह के वशीभूत होकर मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके संसार में भ्रष्ट आचरण करते हैं।

पैसे को भगवान तथा विषय भोगों को ही जीवन का लक्ष्य और शरीर को भोग प्राप्ति का साधन समझने वालों की इच्छाओं का अन्त नहीं होता। वह कितना भी धन, पद और शोहरत क्यों न पा लें, उसमें 'और अधिक' की संभावना हमेशा बनी रहती है। निन्नानबे के चक्कर में पड़ा व्यक्ति सोचता रहता है- 'बस यह और मिल जाए।' और मिल जाने पर भी 'बस यह और' रहता ही है।

वास्तव में कामना का स्वभाव ही हैं जितना उसे पूरा करो उतनी ही बढ़ती है। जिसके पास जितनी दौलत होगी उसे उतनी ही वस्तुएं अपने चारों ओर दिखाई देने लगेगी जो उसके 'स्टेटस' को बढ़ा सके। इनकी कामनाओं के बोझ से वह हमेशा दबा रहेगा। जैसे जैसे मनुष्य धन कमाता और भोग में डूबता है वैसे वैसे वह जन साधारण तथा प्राकृतिक जीवन से कटता चला जाता है। शारीरिक सुख के अनेकानेक साधन, गहने, कपड़े, बंगला, मोटर आदि के घेरे में कैद उसका किसी से सम्पर्क रहता भी है तो केवल अपने मातहतों या चाटुकारों से, जो उसकी जी हजूरी करते रहते हैं। फलस्वरूप झूठा

मद, दम्भ और मान उसे अपना शिकार बनाए रखता है। उसका जीवन ढ़ोंग में बीतता है। वह मोह और भ्रम में जीता है।

जैसे रात के अंधेरे में उफनती नदी का तैर कर पार करने वाले व्यक्ति के पास कोई मगरमच्छ आ जाए और वह उसे लकड़ी का पटरा समझ ले तो उसका भ्रम उसे मौत से साक्षात्कार करवा कर रहेगा। इसी प्रकार हमने भ्रमवश ऐसी वस्तुओं को पकड़ा है जो हमारा बेड़ा पार नहीं लगा सकती। फल क्या मिल रहा है, यह लिखकर बताने की आवश्यकता क्या है? हम तो भुक्तभोगी हैं ही।

भोगी व्यक्ति के जीवन का चित्र खींचते हुए भगवान कहते हैं-

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।११।।

वह अनन्त चिंताओं से घिरा रहता है जिसका अंत केवल मृत्यु के साथ ही होता है। वह निश्चित मानता है कि काम और भोग ही परम लक्ष्य है।

कामना कैसी भी क्यों न हो, एक कामना नाना प्रकार के विचारों को जन्म देती है और हम उस कामना को पूरी करने की चिन्ता में लग जाते हैं। इच्छा तो लोक सेवा की ही क्यों न हो, उसकी पूर्ति के लिए भी अनेकों उपाय करने पड़ते हैं। लाखों बाधाएं आती हैं और सबका सामना करना पड़ता है। न इच्छाओं का अन्त होता है, न इच्छा पूर्ति में आनेवाली बाधाओं का। एक आदर्श के प्रति समर्पित होकर लक्ष्य के लिए डटे रहें तो समस्याओं के बावजूद मन अपेक्षाकृत शांत रहता है। समर्पण की भावना दुश्चिन्ताओं के स्थान पर नवीन उत्साह का संचार करती है।

लेकिन लक्ष्य जब काम भोग ही हो तो इन चिंताओं की कोई काट नहीं। भोगों का अन्त भी कोई नहीं। जो जितने जी जान से इस राह पर चलेगा उसे उतनी ही मंजिल दूर मालूम देगी। साधारण व्यक्ति को तो सुख के नवीनतम साधनों की जानकारी ही नहीं होती। मजदूर के लिए तो अपना कच्चा घर

न हो, घड़ी न हो, साइकिल न हो तो वह इनसे ऊपर कुछ सोचेगा ही नहीं। लेकिन मनुष्य जैसे-जैसे धन कमाता है और सुख भोग के साधन एकत्र करता है वैसे-वैसे उसे पता चलता है कि जो वस्तु उसने ली है, उससे भी कई गुणा उत्तम वस्तु अमुक स्थान पर मिलती है। इस प्रकार कामना की पूर्ति पूर्णता को जन्म न देकर अधूरेपन की ही सृष्टि करती है। विषयों के पीछे भागकर मानो वह मुसीबत के पीछे भागता है। इसके अन्त के लिए प्रलय शब्द का प्रयोग किया गया है। हर व्यक्ति के लिए उसकी मृत्यु ही प्रलय है।

ऐसे लोगों को यदि आत्मानुभूति की बात बताई जाए तो सुनने को ही तैयार नहीं होते। वे अपनी इस राय के प्रति निश्चित रहते हैं कि जीवन की सार्थकता इसी में है कि जितना भोग सकें भोग लें। यदि कोई मित्र उन्हें समझाने की कोशिश करें कि 'भोगते तो आ ही रहे हो तुम अब तक, सुख का अनुभव हो कहां रहा है? मेरी मानो, भोगों को त्याग कर देखो।' तो वे उसे महामूर्ख ही समझेंगे। उन्हें लगता है कि भोगों से सुख इसलिए नहीं मिल रहा क्योंकि वे पूरी सामाग्री जुटा नहीं पाए हैं। वे कहेंगे 'नरम बिछौने में, एयरकंडीशन्ड बंगले में, स्वादिष्ट भोजन में सुख कैसे नहीं है? हां, संघर्ष तो करना ही होगा इन्हें पाने के लिए। अरे संघर्ष ही तो जीवन है। यदि रूखा-सूखा खाना है, जमीन पर सोना है तो जीवन में रह ही क्या जाता है?'

पहले तो वह वस्तु की कामना के पीछे पागल होकर धन कमाता है फिर कमाए गए धन की दिखावेबाजी के लिए तरह-तरह के आयोजन में परेशान होता है। कमाना और दिखावेबाजी में खर्च करने के लिए नये-नये क्षेत्र ढूंढ़ना ही उसके जीवन का लक्ष्य रहता है, इसी में उसकी शक्ति खर्च होती है। लड़ते भिड़ते, कुढ़ते, झींकते हुए वे नाना प्रकार की व्याधियों के ग्रास हो जाते हैं। जीवन भर काम भोग सत्य रहता है। मरने पर राम नाम को सत्य बताते हुए लोग उसे श्मशान तक ले जाते हैं।

इसी जीवन शैली के विषय में भगवान कहते हैं-

आशापाश शतैर्बद्धाः काम क्रोध परायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थ संचयान् ।।१२।।

सैकड़ों आशाओं (इच्छाओं) के बन्धनों में बंधा हुआ वह काम और क्रोध में डूबा रहता है तथा काम भोग के लिए अन्याय पूर्वक धन संचय करता है।

एक ही आशा सैकड़ों संकल्पों विकल्पों को जन्म देती है जहां सैकड़ों इच्छाएं हो वहां तो कहना ही क्या? स्थिति ऐसी जटिल हो जाती है कि एक इच्छा की पूर्ति बिना दूसरी पांच छः इच्छाओं के त्याग के हो ही नहीं पाती। भगवान ने इसे आशापाश का नाम दिया है और बन्धनकारी बताया है। आशापाश को अच्छी तरह समझना है तो अपनी कमर में बहुत सी डोरियां बांध लें और उनका दूसरा छोर विभिन्न वस्तुओं के साथ बांध दे। इसके बाद देखे अपने आप को। एक ओर जरा सा भी हिलने का मन हुआ तो टेंशन हो जाता है कि हिल गया तो दूसरी ओर की वस्तुएं गिर जाएंगी। इसी प्रकार जब हमारा मन अनेक इच्छाओं से बंधा होता है तो एक पूरी होती है तो दूसरे का संतुलन बिगड़ जाता है। यह बिगाड़ पहली को पाने के सुख को भी धराशयी कर देता है। नतीजा है चिड़चिड़ाहट और क्रोधा। और अगली गति है अन्याय पूर्वक धन संचय करना। चार अपूर्ण कामनाएं आपको शांत बैठने ही नहीं देगी। वे प्रवृत्त करेंगी कि आप किसी न किसी प्रकार धन का 'जुगाड़' करें। और यह 'जुगाड़' ईमानदारी से हो नहीं सकता हम अच्छी तरह जानते हैं।

इस प्रकार अन्याय पूर्वक धन कमा लेने के बाद आसुरी व्यक्ति क्या कहता सोचता है यह भगवान अगले श्लोक में बता रहे हैं-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।१३।।

आज मैंने इतना पा लिया। मैं इस मनोरथ की पूर्ति करूंगा। यह मेरा है और यह भविष्य में मेरा होगा।

यह श्लोक तो ऐसा महामंत्र है जिसका पाठ कम से कम अस्सी प्रतिशत पुरुष तो दिन में एक न एक बार कर ही लेते हैं।

इच्छाएं अनेक हैं। उनकी पूर्ति के लिए योजनाएं बनानी पड़ती है। जितना भी धन व्यक्ति कमाता है उसे गिनता है। फिर उसके उपयोग की योजना बनाता है। मैंने इतना रुपया कमा लिया है। इससे फ्रिज ले आऊंगा। टी. वी. और वीडियो तो मेरे पास है ही। अब एक कार और बंगला लेना बाकी रहेगा, बस। लेकिन मजे की बात यह है कि अन्धी यात्रा को पूरी करने वाली 'बस' कभी नहीं आती। हर रोज कामनाएं पूरी की जाती हैं, हर अगले दिन वह बाकी बची इच्छाओं की पूर्ति के लिए जी प्राण से लगता है। पहले दिन जो भोग सामाग्री लाई गई उसका आनन्द उठाने का भी समय नहीं होता। इस प्रकार जीवन में बहुत कुछ होते हुए भी अधूरापन, खोखलापन बना रहता है।

कैमरा लेकर भ्रमण पर निकले। एक सप्ताह में पूरा उत्तराखंड देख लेना है। जहां सुंदर दृश्य दिखाई दिया, निकाला कैमरा, फोटो खींची और आगे बढ़े। जो एक क्षण आनन्द लेने को मिला था वह भी कैमरे की भेंट हो गया। बच्चे रुकना चाहते थे उन्हें डांट दिया गया। इस प्रकार सात आठ रील फोटो खींचकर वापस लौटे तो इतना काम जमा हो चुका कि सर उठाने की फुर्सत नहीं। फोटो आई, रख दी गई। कौन देखे उसे? यह पागलपन नहीं तो और क्या है? इच्छाओं की अतिशय अधिकता में हम अपने आप को उस क्षणिक सुख से भी वंचित कर देते हैं जो हमें किसी एक इच्छा की पूर्ति से मिलता।

यह तो बात हुई वस्तुओं की। अब जरा देखें कामी पुरुष का दूसरे व्यक्तियों के साथ कैसा संबंध रहता है–

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।१४।।

आज मैंने इस शत्रु को समाप्त कर दिया है। दूसरों को भी करूंगा। मैं मालिक (ईश्वर) हूं, मैं सुख भोगने वाला हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं बलवान और सुखी हूं।

इन श्लोकों को पढ़कर कभी–कभी तो लगता है कि अब से छः हजार साल पहले वेद व्यास जी ने इन शब्दों की कल्पना कैसे कर ली जिनका

प्रयोग आधुनिक युग का पुरुष करता है।

वस्तुएं कम और चाहने वाले अधिक। प्रतिद्वंद्विता के युग में सब एक-दूसरे को जड़ से साफ करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। जो इसमें थोड़ा सफल हो जाता है वह इसी मंत्र को दुहराता है। मनोहर, श्याम और विनोद को तो मैंने ठण्डा कर दिया, अब गुप्ता और राव बचे हैं। ये भी बचकर आखिर जायेंगे कहां? मैं अपनी दुनिया का बादशाह हूं। मेरे जैसा बुद्धिमान कोई नहीं, मेरे जैसा बलवान कोई नहीं, मैं सबसे ज्यादा सुख भोगने वाला हूं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।।१५।।

मैं धनवान और उच्च कुल का हूं। मेरे समान और कौन है? मैं दान दूंगा, मैं हर्ष को प्राप्त होऊंगा। इस प्रकार वे अज्ञान से विमोहित (भ्रमित) होते रहते है।

अपने धन,पद और ऐश्वर्य के अभिमान में फूला व्यक्ति दूसरे को हेय समझने लगता है और अपने को महान। उसे लगता है कि उसके समान दूसरा कोई नहीं। दूसरा उसकी कोई उसकी प्रशंसा करे या न करें, वह स्वयं ही झूठे अभिमान में कुप्पा हुआ रहता है। वह दूसरों पर प्रभुत्व जमाने के लिए दान देता है। वास्तविक दान तो वह है जो दूसरों के कष्ट को स्वयं का कष्ट मान अपनी सम्पत्ति को मिल बांट कर भोगने की प्रवृत्ति के साथ दिया जाय। ऐसे दान के पीछे करुणा और त्याग की भावना रहती है न कि दिखाने की ।

लेकिन साधारणतः लोग दान करते हैं तो अपनी महानता का ढिंढोरा पीटने के लिए, अखबार में नाम और फोटो छपवाने के लिए। अस्पताल के लिए दान देने वाला पहले तो यह निश्चित कर लेता है कि नए वार्ड में उसका नाम कहां पर, कितने बड़े अक्षरों में लिखा जाएगा, फिर उद्घाटन के अगले दिन सुबह उठते ही अखबार पर लपकता है कि उसका फोटो निकला है कि नहीं, उसके नाम को कितना महत्व दिया गया, समाचार कौन से पृष्ठ

पर निकला इत्यादि। इसके बाद वह अपने नाम का फायदा दूसरे सामाजिक और व्यवसायिक लाभों के लिए उठा लेता है और साथ ही यह भी अपेक्षा रखता है कि भगवान उस पर प्रसन्न होकर स्वर्ग लोक में सीट अवश्य बुक कर देंगे। इसका नाम है दान!

एक बार फिर स्मरण कर लें कि गीता का यह अध्याय इस हेतु कदापि नहीं कि यह वर्णन पढ़कर हम मूल्यांकन करना आरंभ कर दें कि हमारे परिचितों में कौन कितनी आसुरी प्रवृत्ति वाला है। यह काम तो जगत के नियन्ता स्वयं कर रहे हैं और आगे वे अपना निर्णय भी बताएंगे। हमें तो बस अपनी प्रवृत्तियों का निरीक्षण करना है और इनके आगामी नतीजों को दृष्टिगत रखते हुए इनके स्थान पर दैवी गुणों की स्थापना करनी है।

क्या होता है ऐसी प्रवृत्तियों का नतीजा? भगवान् बताते हैं-

अनेक चित्त विभ्रान्ता मोह जाल समावृताः ।
प्रसक्ताः काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६।।

अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले, मोह जाल में फँसे हुए काम भोग में आसक्त पुरुष अपवित्र नर्क में गिरते हैं।

जब एक ओर लालसाओं का ढ़ेर होता है और दूसरी ओर महानता का भ्रम, तो व्यक्ति भांति भांति की कल्पनाएं करने लगता है। मैं यह कर लूंगा, वह कर लूंगा, फिर मेरे पास इतना धन हो जाएगा, फिर लोग मेरे सामने हाथ फैलाएंगे, गिड़गिड़ाएंगे, मैं उनको दुत्कारूंगा..... इत्यादि। इस प्रकार वह अपने ही खयालों में दूसरों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या, घृणा आदि के बीज बो लेता है और इससे निकलने वाली विषबेल को अपने नित्य नवीन विचारों से सींचता रहता है। उसके दिमाग में हर वक्त दूसरों को नीचा दिखाने की योजनाएं बनती रहती है। ऐसे व्यक्ति को कोई पसन्द नहीं करता। उसके निकृष्ट विचारों का असर उसके शरीर से निकलने वाले विभिन्न हारमोन्स इत्यादि पर पड़ता है। उसे मानसिक शांति तो मिलती नहीं अनेक प्रकार के रोग अवश्य घेर लेते हैं। शारीरिक और मानसिक पीड़ा की स्थिति को ही नरक कहते हैं। जगत नियन्ता परमेश्वर ने सृष्टि का विधान ही ऐसा बना

दिया है यानि शरीर की संरचना ही ऐसी कर डाली है। उन्हें स्वयं झांक झांक कर किसी के कर्मों, विचारों, प्रवृत्तियों का लेखा जोखा रखने, उसका भविष्य निर्धारित करने और उसे क्रियान्वित करने के लिए विशेष कुछ करने की आवश्यकता नहीं। सारा सिस्टम ऑटोमेटिक है। बुरे कर्मों का तो बुरा फल मिलता ही है, बहिरंग दृष्टि से अच्छे प्रतीत होने वाले कर्मों के पीछे भी यदि भावना पवित्र न हो तो अपना शरीर ही सबसे पहले शत्रु बन कर खड़ा हो जाता है।

स्वर्ग और नरक दो अलग अलग भौगोलिक स्थान नहीं हैं कि एक स्थान पर जाने मात्र से ही सुख मिले और दूसरे स्थान पर दुख। एक ही छत के नीचे रहने के वाले दो व्यक्तियों में एक स्वर्ग का अनुभव करता है दूसरा नर्क का। एक सोचता है– 'वाह यह तो स्वर्ग है स्वर्ग।' दूसरा सोचता है,' किस नरक में पड़ गए! कब छूटेंगे?' यदि तीन चार दूसरे लोगों के साथ एक ही कमरे में रहना पड़े तो जो मिलनसार और मृदुभाषी तथा सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने वाला है उसे तो बहुत अच्छा लगेगा। दूसरे भी उसे पसन्द करेंगे और उसका समय आनन्द से कटेगा। लेकिन जो अपने को महान और दूसरों को निकृष्ट समझेगा उसे तो पल पल भारी होगा। वह स्वयं भी नारकीय पीड़ा का अनुभव करेगा और दूसरों को भी परेशान करेगा।

इसी प्रकार आसुरी प्रवृत्तियों के नतीजे की जरा सी झलक मात्र दिखा कर भगवान फिर प्रवृत्तियों के विचार पर आ जाते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।१७।।

अपने आप को श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी पुरुष और मान के मद से युक्त हुए शास्त्र विधि से रहित केवल नाम के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से भजन करते हैं।

अपने धन और पद के मान में फूले हुए लोग अपने आप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वे अपने विचारों के प्रति इतने हठी होते हैं कि किसी से भी आलोचना नहीं सुन सकते। पहले भगवान ने दान के पीछे उनकी

प्रवृत्ति बताई थी अब उनके द्वारा किए गए यज्ञों की गाथा बता रहे हैं।

दान और यज्ञ दोनों ही पुण्य कर्म है, पर दान व्यक्तिगत होता है, यज्ञ एक सामूहिक अनुष्ठान होता है। भगवान बताते हैं कि वे लोग यज्ञ करते हैं पर १. नाम के लिए और २. अविधिपूर्वक ।

गीता में ही तीसरे अध्याय में भगवान ने विस्तारपूर्वक यज्ञ के विषय में बताया है। यज्ञ सचमुच यज्ञ हो इसके लिए निम्नलिखित शर्तें बताई-

१. अनेक लोगों की सहभागिता।

२. सभी के द्वारा मिल जुल कर अपने-अपने अहंकार का त्याग करते हुए यज्ञ कार्य करना।

३.सर्वसाधारण की भलाई की भावना।

यानी हमारे शास्त्रों के अनुसार सर्वहित के लिए किए गए सामूहिक कार्य ही यज्ञ हैं। आधुनिक काल में कोई समाज सेवी संस्था, ट्रस्ट आदि चलाना, अस्पताल आदि बनवाना, सहकारी संस्थाएं चलाना इत्यादि यज्ञ हैं। इसके अलावा विभिन्न अवसरों पर किए गए धार्मिक अनुष्ठान भी यज्ञ है।

अब जरा देखें कि इनके पीछे क्या वे भावनाएं रह गई हैं जो हमारे शास्त्रों में बताई गई हैं। देखने में ये सामूहिक अनुष्ठान लगते जरूर हैं लेकिन अधिकांश जगहों पर हम पाते हैं कि एक व्यक्ति का वर्चस्व होता है, बाकी उसके नौकर या पिछलग्गू होते हैं। इनके द्वारा जो कार्य किया जाता है वह अहंकार के त्याग के साथ नहीं वरन् अहंकार की पुष्टि करते हुए अपने नाम के लिए। यज्ञकर्ता जो कि प्रायः बहुत बड़ा धनवान या बड़ा कुर्सीवान होता है वह लोगों को दिखा देना चाहता है कि उसके दिल में कल्याण की कितनी भावना है। सारे के सारे पिछलग्गू भी कार्य करते हैं तो केवल बॉस को खुश करने के लिए ताकि बॉस की कृपादृष्टि हो जाए और उन्हें कोई अच्छा 'चांस' दे दे। सर्वसाधारण की भलाई की भावना कहां? यह तो गरीबों का सौभाग्य समझें कि अमीरों की दिखावेबाजी में कुछ लाभ उन्हें अनायास हो जाता है। इस प्रकार यह है दम्भेन अविधिपूर्वक किया गया यज्ञ।

एक स्थान पर खुला मंदिर बनाया गया हनुमान जी का। संसार की सबसे ऊंची मूर्ति बननी चाहिए। बहुत बड़ी जगह इसके लिए अधिकृत की

गई, उसमें मजे की बंदरबांट हुई। दूसरे देवी देवताओं के भी मन्दिर बने और काफी वाद-विवादों के मध्य हनुमान जी की प्रतिमा बन कर तैयार हो गई, जिसका मुंह दक्षिण की ओर था जो हमारे शास्त्रों में वर्जित है। फिर बारी आई उद्घाटन की। मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा का स्थान उद्घाटन समारोह ने ले लिया। किसी संत महात्मा से मंत्रोच्चार करवा कर भला आयोजकों को कौन सी सिद्धि मिल जाती? प्रांत के मुख्यमंत्री को निमंत्रित किया गया। उद्घाटन के समय हेलीकॉप्टर से फूल बरसाने की व्यवस्था भी की गई। फिर पता चला कि मुख्यमंत्री जी किसी कारणवश नहीं आ पाएंगे। हेलीकाप्टर तुरंत कैंसिल कर दिया गया क्योंकि फूल हनुमान जी के लिए तो थे नहीं, मंत्री जी के लिए थे। ऐन वक्त पर फिर कार्यक्रम में फेरबदल हो गया और मंत्री जी पधार गए किन्तु हेलीकॉप्टर से फूल बरसाने की व्यवस्था हो नहीं पाई। खूब ऐसी की तैसी की गई आयोजकों की।

ये ही हैं दम्भ के साथ अविधिपूर्वक किए गए यज्ञ जो हमें यत्र तत्र दिखाई देते हैं। हमारे घरों में किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान, भागवत सप्ताह का आयोजन इत्यादि भी धन और स्टेटस के प्रदर्शन के माध्यम बन गए हैं, विवाह उपनयन आदि संस्कारों में तो एक ओर यज्ञ चलता है और दूसरी ओर अतिथियों के बीच शराब की गंगा-यमुना बहाई जाती है ताकि लोग वर्षों तक याद करें। अन्याय से संचित अर्थ इस प्रकार दम्भ, दर्प, दिखावे की पूर्ति के काम आता है। इस प्रकार के लोगों के प्रति भगवान क्या सोचते हैं? वे कह रहे हैं-

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अंहकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के वशीभूत हुए, दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले हैं।

धन, मान, अहंकार, काम, क्रोध आदि के वशीभूत हुआ व्यक्ति पतन के गर्त में गिरता जाता है। बाहरी टीमटाम और सुन्दर वस्त्रों में सजा

यह व्यक्ति नरश्रेष्ठ दिखाई देने का प्रयत्न करता है पर होता है नराधम। उसके पास धन होता है, पर किसी जरूरतमंद के काम आने के लिए नही, अनैतिक कर्मों में उड़ाने के लिए। उसके पास भावना से ठसाठस भरा मन होता है लेकिन उस भावना में दीन दुखियों के लिए कोई स्थान नहीं होता। होता है केवल अपना स्वार्थ। उसके पास तीक्ष्ण बुद्धि होती है, पर किसी आदर्श पर चलने के लिए नहीं बल्कि यह योजना बनाने के लिए कि किस प्रकार दूसरों का अधिक से अधिक शोषण किया जा सकता है, किस प्रकार दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है, किस प्रकार उन्हें इशारों पर नाचने के लिये विवश किया जा सकता है।

हम यदि समझते है कि हममें चैतन्य रूप सें भगवान विद्यमान है तो हमें ऐसा कार्य करना चाहिए जो ईश्वरत्व के अनुकूल हो लेकिन ईश्वर तो क्या, मानव भी बनकर न रहें तो यह हमारे हृदय में स्थित अन्तर्यामी प्रभु का अपमान करना है। जैसे पुत्र के गौरवशाली कर्मों से पिता का मान बढ़ता है और उसके दुष्कृत्यों से पिता भी अपमानित अनुभव करता है उसी प्रकार हमारे कुकर्मों से भगवान स्वयं को अपमानित अनुभव करते है।

भगवान कहते हैं कि वे स्वयं में और दूसरों में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करते हैं। हमारे शास्त्र तो कहते है कि पशुओं-वृक्षों में भी भगवान के दर्शन करो और हम है कि अपने बन्धुवों को ही 'सड़क का कुत्ता' या 'नाली का कीड़ा' कहते और समझते है। दूसरों को खुदा का बन्दा' न समझकर अपना गुलाम समझते है। ऐसा निकृष्ट व्यवहार प्रभु का ही अपमान है।

प्रभु क्या करते हैं इस प्रकार अपमानित होकर?

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।१९।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।२०।।

ऐसे उन द्वेष करने वाले क्रूर नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूं।

हे कौन्तेय! ये मूढ़ बार-बार असुर योनि में जन्म लेते है। और मुझे न पाकर और भी अधम गति को प्राप्त होते है।

मनुष्य जब कोई बुरा कर्म करता है तो उसकी इति कर्म की समाप्ति के साथ ही नही हो जाती। बुरा कर्म करके वह अनजाने में गलत वासनाएं एकत्र कर लेता है जो उसे फिर कुकर्म करने को प्रेरित करती है। पहली बार हत्या करने में उसे बहुत डर लगता है, दूसरी बार कम। चार पांच बार के बाद तो उसे मजा आने लगता है और बीस-पचीस के बाद तो हत्या करने का अवसर न मिलने से उसकी हथेली खुजलाने लगती है। उसे अधूरा-अधूरा लगता है। भगवान ऐसे क्रूर व्यक्तियों को नराधम अर्थात् मनुष्यों में सबसे निकृष्ट बताते हैं। ऐसे मनुष्य तो बस पूंछ कटवा कर सीधा चलना सीख गए हैं। सींग का स्थान ब्रेन ने ले लिया है। पशुओं से बस आधा कदम आगे हैं। देखा जाए तो इनसे पशु ही भले। कम से कम अपनी योनि को कलंकित तो नहीं करते। कोई गाय कभी कश्मीर की समस्या पर चिंतित नहीं होती लेकिन आतंकवादी बन निर्दोष लोगों को मौत के घाट सुलाने का प्रयत्न भी तो नहीं करती।

क्या हो सकता है इनका? क्या ये उच्च पद पर आसीन होने लायक हैं? वैसे भी स्वाभाविक रूप से जिसके मन में जैसी वासनाएं होंगी वह वैसा ही साथ ढूंढ़ेगा। जिसे चोरी स्मगलिंग आदि करनी है उसे कॉलेज में पढ़ने वाले शरीफ लड़कों के साथ क्या लेना-देना? वह तो उन लोगों के साथ मेल-जोल करेगा जो नशा करते हैं। फिर हेरोइन, चरस बेचने वालों से मिलेगा। इस प्रकार उसकी 'महत्वाकांक्षा' उस व्यक्ति के पास पहुंचा देगी जो नशीले पदार्थो की स्मगलिंग करता है। उसके गिरोह में शामिल होने के बाद उसे अपराध के नए-नए तरीके मालूम होंगे। वह अपराध की दुनिया का राजा बनता जाएगा। यही आशय है भगवान का जब वे कहते हैं कि मैं उसे बारम्बार असुर योनि में गिराता हूं, वह मुझे न पाकर और भी अधम गति को प्राप्त होता जाता है।

हमारे मन में प्रश्न उठ सकता है कि यदि भगवान इतने कठोर नियन्ता हैं तो फिर उन्हें करुणा सागर, दीनानाथ क्यों कहा जाता है। बात यह है कि उनका यह रूप हमें कठोर दिखाई अवश्य देता है पर है उनकी करुणा ही। हम तो पल-पल इतने पाप करते हैं कि सचमुच यदि उनके अनुसार दण्ड मिलने लगे तो हम एक क्षण भी चैन से न जी पाएं। यह तो भगवान की दयालुता है कि हमें इतना ही दण्ड देते हैं जितना हमारे सुधार के लिए परम आवश्यक समझते हैं।

कल्पना करें कि अन्याय पूर्वक धन जमा करने, दूसरों को नीचा और पशु मानने वाले व्यक्ति के पाप क्षमा कर भगवान उसे सुख देते रहें? ऊंचा पद देते रहें। क्या होगा इसका फल यह समझना है तो हिटलर की कथा पढ़ लीजिएगा। क्या नीच व्यक्ति को उच्च स्थान दे देना मानवता पर कहर बरपाना नहीं होगा जो वैसे ही अमीरों के शोषण की चक्की में पिसे जा रहे हैं। व्यभिचारियों के लिए एड्स के रोग का सृजन भगवान की कठोरता है कि दिनों दिन बढ़ती अनैतिकता पर अकुंश लगाने का अत्यंत हल्का एक उपाय!

करुणावरुणालय प्रभु के पास तो जेल नाम की कोई संस्था नहीं। उनके पास तो केवल सुधार गृह है। जैसे बाल अपराधियों के लिए यह माना जाता है कि वे अज्ञानवश अपराध करते हैं। अत: उन्हें जेल में न रख कर बाल सुधार गृह में रखा जाता है, उसी प्रकार भगवान ने चौरासी लाख योनियों के रूप में हमारे लिए विभिन्न सुधार गृह बनाए हैं। जब उन्हें लगता है कि रोग-शोक व्याधि आदि विभिन्न चेतावनियों के बावजूद यह व्यक्ति अपनी निकृष्ट वासनाओं को छोड़कर 'मानव' बनने को तैयार नहीं है तो वे सोचते हैं- भोग ले अपनी वासना को पूरी तरह और पीछा छुड़ा ले इनसे। लेकिन मनुष्य रूप में रखने पर तो वह और भी अनैतिक कार्य करेगा अत: उसे पशु योनि में भेजते हैं ताकि वह दूसरी गड़बड़ भी न कर पाए और अपनी खास वासना से मुक्त हो ले। इस प्रकार खाने की वासना सूअर की योनि में, संग्रह की वासना मधुमक्खी की योनि में जाकर पूरी होती रहती है। जब संतुलन की एक स्थिति आ जाती है तो पुन: मानव जन्म मिलता है। फिर एक चांस दिया गया है अपने को ऊंचा उठाने का। जो इसका सदुपयोग कर लेते हैं वे तर जाते हैं, जो दुरुपयोग करते हैं उनके लिए भगवान के पास

कोई चारा नहीं बचता अधम योनियों में भेजने के अलावा। इस प्रकार बारम्बार यह चक्र चलता रहता है।

बहुत ही भयावह तस्वीर है यह तो हमारी नियति की। समझ में आ गया कि अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के त्याग और दैवी सम्पदा के उपार्जन के लिए पुरुषार्थ करना बहुत ही आवश्यक है पर भगवान ने कितनी सारी तो आसुरी सम्पदाएं गिना दी, कितनी सारी दैवी सम्पदाएं गिना दी। किस किस को छोड़ें, किस-किस को अर्जित करें? बहुत ही मुश्किल लग रहा है। दो तीन हो तो सुस्थिर होकर आत्मोद्धार प्रयास भी किया जाए।

भगवान अगले श्लोक में ऐसा ही सरल मार्ग बता रहे हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधास्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।२१।।

काम, क्रोध और लोभ, ये तीन नरक के द्वार आत्मा का नाश कर देने वाले हैं अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

नरक के तीन द्वार बताए- काम, क्रोध और लोभ। नरक यानी असुरों की नगरी। काफी बड़ी है यह। भांति-भांति की माया दिखती है यहां। पर यह नगर दिवारों से घिरा है। केवल तीन दरवाजे हैं- काम, क्रोध और लोभ। यदि इन तीन दरवाजों पर सावधानी रख लें तो नरक में प्रवेश से बच जाएंगे। और इन द्वार में अनजाने भी प्रवेश कर गए तो नारकीय अनुभवों से गुजरना सुनिश्चित है।

क्रोध और लोभ भी वस्तुतः काम रूप ही हैं। कामना पूरी न होने से क्रोध आता है और कामना पूरी हो जाए तो लोभ होता है- और मिले, और मिले। तीसरे अध्याय में भी अर्जुन ने भगवान से पूछा था कि मनुष्य नहीं चाहते हुए भी किससे प्रेरित होकर पापाचरण करता है तब भी भगवान ने कहा था कि यह काम-क्रोध ही है जो महापेटू अर्थात् कभी तृप्त न होने वाला और महापापी है। उन्होंने कहा कि अपना सबसे बड़ा शत्रु जान सुनियोजित ढंग से चालें चलते हुए इस खतरनाक शत्रु को मार डालने का

प्रयत्न करें- जहि शत्रुं महाबाहो काम रूपं दुराधसम्। इस क्रम में उन्होंने अच्छी तरह बताया कि काम किस प्रकार चालें चलता है, क्या-क्या उसकी शक्तियां है और कैसे-कैसे उसके हर ठिकाने पर बमबारी करना आवश्यक है।

यहां फिर काम को नरक का द्वार बता रहे हैं। यदि हम काम से बच पाएं तो दम्भ, दर्प, अभिमान आदि आसुरी गुणों से हमें स्वयमेव मुक्ति मिल जाएगी अतः इन अवगुणों के साथ अलग-अलग व्यवहार न कर उनके मूल को ही काटने का प्रयत्न करना ही बुद्धिमत्ता और व्यहारिकता है। इधर-उधर दिमाग लगाने की जरूरत नहीं। पूरा आत्मिक बल काम पर विजय पाने के लिए केन्द्रित करें। तब क्या होगा? भगवान बताते हैं-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।

जो नर इन तीनों तमोद्वारों से विमुक्त है और कल्याणकारी आचरण करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

इस श्लोक से भगवान ने अगले अध्याय की भूमिका बनानी आरम्भ कर दी है। प्रायः ही अध्याय के अंत में भगवान अपनी बात में कुछ नई बात जोड़ देते हैं। उस नई बात को वे छू भर देते हैं, उस पर विस्तृत प्रकाश नहीं डालते। वे चुप हो जाते हैं। अर्जुन के मन में एक प्रश्न उभरता है, वह पूरी बात विस्तारपूर्वक जानने की इच्छा प्रकट करता है और भगवान नए सिरे से बात आरम्भ करते हैं जिसे वेद व्यास जी अगले अध्याय में डाल देते हैं। कुशल शिक्षक को ऐसा होना ही चाहिए। यदि पूरे समय वह स्वयं लगातार कहता ही जाए तो शिष्य को सोचने विचारने का समय ही नहीं मिलेगा। संशय होना मूर्खता की पहचान नहीं वरन् इस बात की निशानी है कि शिष्य ध्यान से सुन रहा है और ग्रहण करने का पूरा प्रयास कर रहा है।

भगवान इस सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी वृत्ति के ही विषय में बता रहे थे। विभिन्न प्रकार के मनुष्य किस प्रकार विचार करते हैं

यह समझा रहे थे और शुभ वृत्ति के उपार्जन की प्रेरणा दे रहे थे। किन्तु क्या केवल अच्छे विचार हों तो कुछ हो सकता है? नहीं। जब तक विचार आचरण में न उतरे तब तक केवल उत्तम होना निरर्थक है। शुभ आचरण की वृत्ति के साथ कृति भी होनी चाहिए।

भगवान कह रहे हैं अर्जुन, पहले तो तुम अपनी वृत्तियों को सात्विक बनाओ, फिर उनके अनुसार आचरण करो। किन्तु वे सावधान करते हैं- काम, क्रोध, लोभ को जीतने के बाद शुभ आचरण में लगो तब तुम्हारा कल्याण होगा।

जिस प्रकार आचरण शुभ हुए बिना शुभ वृत्तियां निष्फल है उस प्रकार शुभ वृत्ति हुए बिना शुभ आचरण की बात सोचता भी मूर्खता है। हम सोच लें कि समाज की सेवा करेंगे, गरीबों का भला करेंगे, अनाथों को सहारा देंगे लेकिन काम, क्रोध के चक्कर से छूट नहीं पाएं है तो न हम समाज की सेवा ही कर पाएंगे न हम शांति का अनुभव कर पाएंगे, क्योंकि जो सोचा वह न करने का ग्लानि बोध बना रहेगा। इस लिए भगवान कह रहे हैं कि पहले तीनों को जीत लो, फिर व्यवहार करो तभी कल्याण होगा।

बहुत अर्थपूर्ण है यह श्लोक। भगवान ने इस अध्याय में काम की निन्दा बार-बार की है। इस अध्याय के विभिन्न श्लोकों में काममाश्रित्य, कामोपभोगपरमा, कामभोगार्थम्, कामभोगेषु आदि शब्दों का व्यवहार बताता है कि आसुरी प्रवृत्ति का मुख्य कारण काम ही है। इस प्रकार वे संकेत दे रहे थे कि काम से बचना चाहिए पर अब अंत में स्पष्ट कह रहे हैं-'अर्जुन बचो, बचो। काम से बचो, इससे बचे बिना कुछ भी करने जाओगे तो सफलता नहीं मिलेगी।' जैसे हमें एक ग्लास पानी पीना हो और एक सांप हमारी ओर सरकता आ रहा हो तो हमारा मित्र कहेगा- 'पहले सांप से बचो तब पानी पीना। पहले पीने जाओगे तो उतनी देर में सांप तुम्हें डस लेगा।'

इस प्रकार इस श्लोक में आसुरी सम्पदा को त्यागने के लिए अंतिम और कड़ी चेतावनी देने के साथ वे अपने विषय का उपसंहार करते हुए शुभ आचरण का नया सूत्र पकड़ते हैं। इन्हीं शुभ आचरणों अर्थात् कल्याणकारी कार्यों के विषय में तनिक और भी बताते हैं-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।

जो शास्त्रों के विधान को त्याग कर काम पूर्ति के लिए कार्य करता है उसे न तो कोई सिद्धि मिलती है, न सुख, न परम गति।

सामान्य जीवन में भी हम प्रतिदिन संविधान के पालन की आवश्यकता अनुभव करते हैं। हम सड़क की बायीं ओर गाड़ी चलाते हैं। हमने देखा कि दायीं सड़क खाली है। क्या दायीं सड़क पर गाड़ी दौड़ाना उचित होगा? दायीं सड़क पर चलने को जितना ही जी चाहे, हमें चलना बायीं ओर ही चाहिए। इसी प्रकार जीवन में बहुत बार हमें दो राहें दिखाई देती है और हम सोचते हैं- यह करूं या वह करूं। भगवान बता रहे हैं कि कार्य-अकार्य का निर्देश हमें शास्त्रों में मिलता है और उन्हीं निर्देशों के अनुसार हमें जीवन के निर्णय लेने चाहिए।

किसी भी धर्म की पुस्तक उठा कर देख लें, कोई अल्लाह कहेगा, कोई जीसस, कोई राम, कोई कृष्ण। किसी में प्रार्थना पर जोर दिया गया है, किसी में सेवा पर, किसी में सबसे महत्वपूर्ण अहिंसा को ही बताया गया है पर मूल रूप से सब एक है। जिन बातों से दूर रहने की सलाह ही गई है वे सब में, हर धर्म, हर शास्त्र में एक हैं। कोई पुस्तक हमें दूसरे जीव को सताने या किसी से घृणा करने की सलाह नहीं देती। प्राणी पर दया करना कहीं भी बुरा नहीं बताया गया है।

लेकिन हमने कार्य-अकार्य के निर्णय के लिए शास्त्रों को आधार नहीं मान रखा। हमारे कार्यों का आधार है हमारी इच्छा, हमारा मन, हमारी कामना। जो मन को अच्छा लगे वह ठीक, जो बुरा लगे गलत। और आज कल तो एक और प्रचलन हो गया है- आत्मा की आवाज का। हम कहते हैं मेरी आत्मा कहती है कि अमुक कार्य करना चाहिए इसलिए मैं कर रहा हूं। संत महात्मा कहते हैं कि आत्मा की आवाज कभी नहीं सुनना। इस आत्मा में कब राम बोलता है कब काम यह तुम नहीं समझ पाओगे। और हम माया मोह के कीचड़ में लिपटे हुओं की आत्मा में राम क्या बोलेंगे, शैतान ही बोलता है। जब तक राग, द्वेष, मद, मोह, लोभ, अहंकार आदि का

मल दूर न हो, आत्मा की आवाज की बात नहीं सोचनी चाहिए। क्या करना है क्या नहीं करना, यह निर्णय नहीं ले पाएं तो जानने का प्रयत्न करें कि हमारे शास्त्र क्या कहते हैं, गीता क्या कहती है। गीता को तो भगवान ने विशेष कर इतना सुगम और व्यवहारिक बना दिया है, हमारे दैनिक जीवन की सारी बातें इतनी स्पष्टता के साथ उसमें सम्मिलित कर दी है कि हम हर समस्या का समाधान गीता माता की गोद में ही पा सकते हैं।

भगवान कहते हैं कि जो शास्त्रों के मत को न मान कर अपने केवल काम पूर्ति के लिए कार्य करता है उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख न परम गति। हमारे शास्त्रों में जो लिखा है वह काम भोग को सर्वोपरि मानने वालों को लगता अव्यवहारिक है पर वास्तव में बात ऐसी नहीं। हम प्रेय मार्ग पर चलना चाहते हैं शास्त्र हमें श्रेय मार्ग बताते हैं। प्रेय मार्ग आकर्षक लगता है, तात्कालिक लाभ की चमक दिखाता है पर अंतिम परिणति दुख में होती है। श्रेय मार्ग अनाकर्षक अवश्य लगता है पर स्थायी सुख शांति तक वही पहुंचा सकता है।

जो धोखाधड़ी कर पैसे कमाते है वे अपने को बहुत चुस्त, बहुत स्मार्ट, बहुत होशियार समझते है। उन्हें लगता है कि उन्होंने बहुत कम समय में बहुत तरक्की कर ली। कम उम्र में बहुत धन कमा कर संगमरमर का महल खड़ा हो गया, लोग ईर्ष्या भी करने लगे कि वह बड़ा सुखी है बड़ा धनी है। पर अपनी टेंशन वह धनवान व्यक्ति ही जानता है। वह न तो धन का ही सुख भोग पाता है न मानसिक शांति ही भोग पाता है। हमारे साथ विडम्बना यह है कि जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को देखते है तो तुरन्त सोच लेते है कि कर्म किए ही है उसने ऐसे, कर्मों का फल भोगना ही होगा। किन्तु जब हम पर तकलीफों का पहाड़ टूट पड़ता है तो हम सोचते है– भगवान मुझे ही इतना दुख क्यों दे रहे हैं? तब सचमुच हम नहीं समझ पाते कि मैने जीवन में बहुत गलत कार्य किए है जिनकी सजा मुझे वैसे ही भुगतनी होगी जैसे क ख और ग को भुगतनी पड़ी।

क्यों होता है ऐसा? क्योंकि हम अपने मन की सुनते आए हैं। हमारा मन है काम आश्रित और साथ ही बड़ा चालाक। उसे जो करना होता है उसके पक्ष में ऐसे ऐसे तर्क दे देता है, और हम उसे खुश रखने की चाह

से ऐसे बंधे होते है जैसे दुष्ट बच्चे की ममता से बंधी मूर्ख माता। वह जो करवाता है वह हमें उचित लगता है। हम समझ ही नहीं पाते कि हमने कोई गलत काम किया, क्योंकि हम उस तरह तटस्थ होकर अपने आप को नही देख पाते जिस प्रकार क ख और ग को देखते है।

शास्त्र हमें माया, मोह, अंहता ममता से छूट कर तटस्थ होना सिखाते है। शास्त्र तो हमें दर्पण दिखा देते है जिससे अपनी विकृतियों को हम चाहें तो स्पष्ट देख सकते है। वे तो सड़क के नक्शे भांति हमें रास्ता बताते है, हर मोड़ पर आने वाले खतरों से भी आगाह करते हैं और उनसे कैसे बचना है वह भी बताते है। जैसे भगवान ने अभी ही बताया था कि काम क्रोध और लोभ के द्वार तुम्हें नरक ले जाएंगे अतः इनसे बचो और शुभ कार्य में लगो।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

इसलिए कार्य अकार्य के निर्णय के लिए शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रों के विधान को जानकर ही तुम कर्म करो।

मन तो हमारा काम, लोभ, क्रोध से ग्रस्त है। अतः बड़े उटपटांग निर्देश दे सकता है जिससे एक बार तो हमें फायदा नजर आएगा पर भविष्य में नुकसान होगा और उस समय हम आंखों पर पड़े मोह के पर्दे के कारण समझ भी नहीं पाएंगे कि हमने क्या गलती की थी। अतः सुधार नहीं हो पाएगा। लेकिन शास्त्र हमारे ऋषि मुनियों, महात्माओं ने लिखे हैं जिन्होंने मानव मनोविज्ञान का बहुत बारीकी से अध्यन किया है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि कार्य अकार्य के लिए शास्त्र को प्रमाण मानो।

शास्त्र वचनों को प्रमाणिक मान कर हम क्या करें? उनका पाठ करते रहें? नहीं। भगवान कहते हैं कि उनमें दिए गए कर्म विधानों को भली भांति जानो। इसके लिए हमें गुरु की आवश्यकता होगी क्योंकि अपनी मलिन बुद्धि से अर्थ समझने जाएंगे तो हमारा यह दुष्ट मन वही मतलब निकलवा देगा जो वह स्वयं चाहता है। और शास्त्र विधान को जानने के बाद भगवान की सलाह है कर्म करो। जैसा पहले बताया गया, शास्त्र तो नक्शे

की भांति है जिसके सहारे हम कुशलता पूर्वक अपनी यात्रा पूर्ण कर लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। पर नक्शे को केवल अपने पास रख लेने या बार-बार देख लेने भर से कुछ नहीं होगा, हमें उसके संकेतों को समझना भी होगा और फिर गाड़ी में बैठ कर गाड़ी चलाने का कार्य भी करना होगा तब लक्ष्य की प्राप्ति संभव है।

इस प्रकार इस अध्याय में भगवान ने पहले दैवी सम्पदा बताई, फिर आसुरी प्रवृत्ति का विवरण दिया। आसुरी प्रवृत्ति के मूल में काम को बताते हुए काम से बचने की सलाह दी और अंत में कहा कि काम के अनुसार न चलकर शास्त्र में दिए गए विधान के अनुसार चलना चाहिए तभी सिद्धि यानी सम्पत्ति भी मिलेगी और परमगति यानि कल्याण की प्राप्ति भी होगी।

इस प्रकार श्री कृष्ण अर्जुन संवाद में दैवासुर संपद् विभाग योग नामक सोलहवां अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्